श्रीकमलमणि-ग्रंथमाला—१६

अलंकार-रत्न

लेखक

ब्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

श्रीकमलमणि-ग्रंथमाला-कार्यालय

सुँडिया, काशी



प्रथम संस्करण] सं० २००५ [मूल्य २)

मुद्रक—ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबर, काशी।

विनम्र निवेदन

साहित्य-ग्रंथों के पठन-मनन करने में अलंकारों के सम्यक् ज्ञान की भी आवश्यकता होती है और उसके अभाव में काव्य का पूरा आनन्द नहीं आता। पचीस वर्ष हुए जब मैंने भारतेंदुजी कृत मुद्राराक्षस के अनुवाद का संपादन किया था उस समय उसके मूल संस्कृत के कई संस्करणों का अध्ययन किया। उनमें नाटक में आए हुए अलंकारों का अच्छा विवेचन था। इसके अनंतर दंडी के काव्यादर्श का बी० ए० की परीक्षा देते समय मनन करना पड़ा क्योंकि वह पाठ्य-क्रम में था और उसका पूरा अनुवाद भी बाद में प्रकाशित कराया। इसी समय के लगभग भाषा भूषण तथा भूषण-ग्रंथावली भी संपादित की जिससे ज्ञात हुआ कि हिंदी-ग्रंथों में अलंकारों की समुचित विवेचना नहीं हो सकी है। इसका मुख्य कारण प्राचीन शैली पर पद्य ही में अलंकार-ग्रंथों का लिखा जाना था जिनमें विवेचना के उपयुक्त स्थानाभाव रहता है। इसलिए यह छोटी सी पुस्तक गद्य में लिखी गई है और इसमें यथाशक्ति अलंकारों को समझाने का प्रयास किया गया है। यह कहाँ तक उपादेय हुई है इसे अलंकार-शास्त्रीगण ही बतला सकेंगे।

इस पुस्तक की रचना में संस्कृत ग्रंथों के सिवा स्व० लाला भगवान-दीन की अलंकार मंजूषा तथा सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की अलंकार मंजरी से विशेष सहायता ली गई है। विद्वद्वर प. व. काणे द्वारा संपादित

साहित्य-दर्पण की भूमिका से संस्कृत अलंकार शास्त्रियों के संक्षिप्त इतिहास लिखने तथा अलंकार के विवेचन में बहुत सहायता मिली है। सेठ कन्हैया लाल पोद्दार का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' वास्तव में संस्कृत के अलंकार शास्त्रियों का इतिहास मात्र है, समग्र संस्कृत-साहित्य का नहीं है। इस सहायता के लिए मैं उक्त सभी ग्रंथकारों का आभार स्वीकार करना अपना धर्म समझता हूँ।

यों तो इस ग्रंथ में उदाहरण अत्यधिक नहीं दिए गए हैं, केवल एक या कहीं दो दो दिए गए हैं। इनमें अधिकतर अन्य सुकवियों के हैं पर कहीं कहीं स्वरचित पद भी दे दिए गए हैं। इन्हें सुकवियों की कृतियों से अलग रखने के लिए कामाओं के भीतर रख गया है, जिससे मेरे दोष किसी सुकवि के मत्थे न मढ़ जायँ। पहिले ऐसा विचार न था पर बाद में यही उचित समझकर अलग किया गया है इस कारण पुस्तक के आरंभ में यदि कोई सदोष पद मिले तो उसे मेरी ही कृति समझकर विद्वानगण क्षमा करेंगे।

मौनी अमावस्या
२००५ } ब्रजरत्न दास

विषय-सूची

भूमिका

१. अलंकार शास्त्र का विकास

अत्यंत प्राचीन काल से आर्य संतानगण बराबर प्रार्थना करते चले आए हैं कि

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां दीर्घं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

(दंडी, काव्यादर्श)

यही कारण है कि आर्यजाति के प्राचीनतम पूज्य ग्रंथ ऋग्वेद में कविता के बड़े ही सुन्दर सुन्दर नमूने मिलते हैं । ऋग्वेद १-१२४-७, १-१६४-२०, १-१६४-११ ऋचाओं में क्रमशः उपमा, अतिशयोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकार पाए जाते हैं । इस ग्रंथ में कथोपकथन भी पाए जाते हैं, जिनको नाटक का बीज कह सकते हैं । मुंडकोपनिषत्, कठोपनिषत् आदि में भी कविता के उदाहरण मिलते हैं । ये उदाहरण ऐसे हैं कि जिनकी बाद के आलंकारिकों ने खूब विवेचना की है ।

प्रायः ढाई सहस्र या इससे पहिले के रचे हुए आदि काव्य रामायण तथा महाभारत में कविता की अत्यंत सुंदर छटा स्थान स्थान पर दिखलाती है । उनमें के कितने अंशों का बाद के आलंकारिकों ने अपने अपने ग्रंथों में उदाहरणस्वरूप में उपयोग किया है । गार्ग्याचार्य ने उपमा का विवेचन किया है । यास्काचार्य के निरुक्त में उपमा का वर्णन आया है । पाणिनि ने कुछ ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनमें कई काव्य के भी हो सकते हैं । उपमेय, उपमान आदि पारिभाषिक शब्दों का इनके समय तक प्रचार हो चला था । इनमें आए नट सूत्रों के उल्लेख से भी पता चलता है कि नाट्यकला का आविर्भाव हो गया

था और शिलालिन्, कृशाश्व आदि नाट्याचार्यों का नाम भी इनके ग्रंथ में आया है। पाणिनि के रचित पातालविजय तथा जांबवतीजय दो काव्यों का नामोल्लेख मिलता है पर यह निश्चित नहीं है कि काव्य-कार तथा वैयाकरणी पाणिनि एक ही हैं या दो हैं। कात्यायन के वार्तिक में आख्यायिका का उल्लेख हुआ है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी तीन आख्यायिकाओं और एक वाररुच काव्य का उल्लेख किया है। कंसवध तथा बलि-बंधन के प्रत्यक्ष दिखलाने के वर्णन से दो नाटकों का भी उल्लेख पाया जाता है। इनके सिवा और भी इस प्रकार के अनेक उद्धरण अन्य ग्रंथों से लिये हुए महाभाष्य में मौजूद हैं, जिनमें कविता कम नहीं है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में भी साहित्यिक बातों का वर्णन आया है। तात्पर्य यह कि विक्रमाब्द शक के आरम्भ होने तक संस्कृत में कविता का अच्छा संग्रह हो गया था और कविता का उद्देश्य, साधन तथा उसके नियम आदि की विवेचना करने का समय आ उपस्थित हुआ था। अब काव्य-रचना तथा लाक्षणिक नियमों की विवेचना साथ साथ होने लगी।

सन् १५० ई० के जूनागढ़ के रुद्रदामन क्षत्रप के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस समय तक काव्य की लाक्षणिक विवेचना सुचारु रूप से हो चली थी। इसमें काव्य के गद्य पद्य भेद तथा स्फुट, मधुर, कांत और उदार गुणों का (जो दंडी के अनुसार प्रसाद, माधुर्य, कांति और उदारता हैं) उल्लेख हुआ है। लेख में यमक भी खूब आया है। समुद्रगुप्त के समय के एक लेख में उक्त सम्राट् की प्रशस्ति हरिषेण द्वारा लिखी गई है, जिसकी शैली बाणभट्ट से मिलती जुलती है। अश्वघोष का बुद्धचरित इन दोनों लेखों के बीच में लिखा गया है। प्रत्येक सर्ग के अंत में भिन्न वृत्त के श्लोक दिये गए हैं, जैसा कि नियम था। यमक और अनुप्रास खूब है तथा यथासंख्य अलंकार का आधिक्य है। हाव भाव से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। अपने एक अधूरे

नाटक को प्रकरण और काव्यों को महाकाव्य लिखा है। तात्पर्य यह कि अश्वघोष लक्षण शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। इसी समय के लगभग भरतमुनि का नाट्यशास्त्र बना होगा जिसमें काव्य की आत्मा रस, नाट्यकला, अलंकार और गुण की विवेचना की गई है। सुबंधु ने अपने वासवदत्ता में और बाण ने अपनी रचनाओं में पारिभाषिक शब्दों का बराबर प्रयोग किया है और इन्हीं के समय के आसपास भामह तथा दंडी से आचार्य कवि हुए, जिन्होंने इस विषय पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं। दोनों ही अपनी रचनाओं में पूर्वाचार्यों का उल्लेख करते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि इनके पहिले भी अनेक विद्वानों ने इस विषय पर लेखनी चलाई थी।

काव्य-संबंधी शास्त्र का नाम किस प्रकार और क्या पड़ा, इसके लिये इस विषय की पुस्तकों के नाम से कुछ पता चलता है। प्राचीनतम प्राप्य पुस्तक का नाम नाट्यशास्त्र है। इसके अनंतर के आचार्यों ने काव्यालंकार, अलंकार संग्रह तथा काव्यालंकार सूत्र नाम दिये हैं। काव्यमीमांसा, काव्यकौतुक तथा काव्यप्रकाश नाम बाद को मिलते हैं। अंत में विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण भी नाम दिया है। इन नामों के अनुसार ज्ञात होता है कि इस शास्त्र का नाम क्रमशः अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र पड़ा। तात्पर्य यह कि ये तीनों ही नाम उक्त शास्त्र के द्योतक हैं।

उक्त विचार से यह भी पाया जाता है कि पहिले पहिल दृश्य काव्य का प्राधान्य था और यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में रस अलंकारादि का विवरण आया है। बाद को ये दोनों अलग अलग विषय रहे अर्थात् दोनों की प्रधानता समान थी। इसके बाद काव्य की प्रधानता बढ़ी और साहित्यदर्पण में नाटकों का विवरण भी काव्यशास्त्र के अंतर्गत आ गया है। क्रमशः इस शास्त्र का उत्कर्ष हो रहा था और अंतिम स्टेज में यह पूर्णता को पहुँच गया था।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों की रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि (१) कुछ ने काव्य के सभी अंगों पर अपने ग्रंथ में प्रकाश डाला है (२) कुछ ने केवल शब्द शक्ति का विवेचन किया है (३) कुछ ने केवल दृश्य का किया है और (४) कुछ ने एक खास विषय लेकर रचना की है, जैसे अलंकार, रस, ध्वनि आदि। हिन्दी में प्रथम कोटि की एक भी रचना नहीं है पर अन्य कोटि के ग्रंथकार मिलते हैं। यह लिखा जा चुका है कि हिन्दी में आचार्यत्व सदा कवित्व का अनुगामी रखा गया है, इसलिये संस्कृत के समान उद्भट अलंकार-शास्त्रियों का हिन्दी में एक प्रकार अभाव होना आश्चर्यजनक नहीं है। आचार्यत्व की दृष्टि से इसमें कम ग्रंथ लिखे गए हैं।

क्रीड़नीयकमिच्छामि दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।

काव्य का हेतु अर्थात् प्रयोजन विशेषतः मनोरंजन ही है, पर इस मनोरंजन में यह विशेषता है कि यह 'वेदविद्येतिहासानामर्थानां' परिकल्पित होता है और इसमें वह शक्ति होती है कि जिससे—

दुःखार्तानां समर्थानां शोकार्तानां तपस्विनां।
विश्रांतिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

इन काव्यों में भरे हुए उपदेश, उच्च आदर्श, सांसारिक अनुभव तथा अन्य विचारादि श्रोता तथा द्रष्टाओं के हृदयों पर इस प्रकार असर डाल जाते हैं कि उनके अज्ञान में उनका स्थायी प्रभाव पड़ जाता है। ये आज्ञा नहीं देते और न तार्किक शैली पर चलकर दबाव डालते हैं पर क्रमशः स्त्री के समान मृदु रूप से कानों और आँखों द्वारा हृदयों में पैठ जाते हैं। इनका प्रभाव अतुलनीय है और यही कारण है कि दंडी ने जोर दिया है कि—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुंदरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥

साथ ही कविता करने के लिए कवियों को किन साधनों की आवश्यकता है, यह विचारणीय है। दंडी ने लिखा है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमंदश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥

किसी ने प्रतिभा ही को साधन माना है, पर कोरी प्रतिभा बिना पठन पाठन तथा अभ्यास के किस काम की। निरक्षरभट्ट क्या लिख सकते हैं, बहुत हुआ कुछ ऊटपटांग कजली, चनैनी वगैरह बना डालेंगे। दंडी ने जो लिखा है, वही बहुत ठीक है। स्वभावतः ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा बीज रूप में मुख्य साधन अवश्य है पर अनेक शास्त्रों का अध्ययन उससे कम आवश्यक नहीं है। सांसारिक अनुभव भी, जो पर्यटनादि से प्राप्त होता है, काफी होना चाहिए। इन सबके होते हुए काव्य रचना का अभ्यास करना चाहिए। यह सब तभी तक आवश्यक हैं जब तक कवि अपने उत्तरदायित्व को पूर्णरूपेण समझता है। उसे जानना चाहिए कि उसके पद तथा पदांश सूक्तियों के समान मानव समाज के पथ प्रदर्शन के काम आवेंगे। कवि प्रज्ञाचक्षु होता है, वह अनंत विश्व में व्याप्त ईश्वरीय संदेशों को मानव समाज के सामने उनके हितार्थ अपनी भाषा में उपस्थित करता है। यदि वह यह सब कार्य सफलतापूर्वक न कर सका तो वह अपने पद से च्युत हो जाता है।

काव्य की अनेक परिभाषाएँ अनेक आचार्यों ने गढ़ी हैं और उनमें विशेष जोर इस बात पर डाला गया है कि काव्य का शरीर जब शब्दों से बना है तो उसकी आत्मा क्या है। इसी आत्मा को लेकर परिभाषाओं में खूब तर्क वितर्क हुए और अनेक पक्ष बन गए। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के होने का उल्लेख पहिले पहल भामह ने किया है— शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। इसके बाद आनेवाले दंडी महाराज ने शब्दार्थ से काव्य-शरीर के निर्माण का और अलंकारों से उसे भूषित करने का उल्लेख किया है—

तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।।

अग्निपुराण में भी 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' लिखा गया है। काव्यशरीर की आत्मा क्या है, इस पर जो वादविवाद हुआ उससे कई पक्ष हो गए। इनमें रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पाँच को लेकर पाँच मुख्य पक्ष हुए।

१—रसपक्ष—इसका आरंभ भरतमुनि ने किया है। 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र ही इस पक्ष के तर्क का मुख्य आधार है। यह पक्ष सबसे प्राचीन है और इसकी तर्क प्रणाली यह है कि कविता का प्रभाव मनुष्य के हृदयस्थ भावों पर पड़ता है, उनके मस्तिष्क की तर्क शक्ति पर नहीं पड़ता। मनुष्यों में स्थायीभाव रति, शोक आदि सर्वदा हृदयस्थ रहते हैं और तब तक निश्चेष्ट से रहते हैं जब तक उन्हें आवश्यक उत्तेजना नहीं मिलती। आलंबन तथा उद्दीपन विभावों, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को पाकर वे हृदयस्थ स्थायिभाव सचेष्ट हो जाते हैं और तब शृङ्गारादि रसों का परिपाक होता है। इष्टार्थयुक्त शब्दावली से जब विभावानुभावादि का सुंदर वर्णन कवि करता है तब श्रोताओं के हृदय में एक चित्र सा खिंच जाता है और उसके अनुकूल स्थायीभाव को सचेष्ट करता हुआ उसे रसमग्न कर देता है। तात्पर्य यह कि यह पक्ष इस तर्क से रस को काव्य की आत्मा मानता है।

२—अलंकारपक्ष—इस पक्षवाले अलंकारों ही को काव्य का सर्वेसर्वा समझते हैं। यह नहीं है कि ये लोग रसों को या रसपक्ष की तर्क प्रणाली को न जानते रहे हों पर ये कविता की मनोरंजकता का कारण अलंकारों ही को मानते रहे। इन लोगों ने अलंकारों ही को प्रधान तथा रसों को गौण मानकर रसवत् से अलंकार बनाए हैं। 'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः' (१-५१) और 'कामं सर्वोप्यलंकारः रसमर्थे निषिंचति'

(१–६२) दंडी ने बराबर लिखा है। इन्होंने गुणों को भी अलंकार माना है—काश्चिनमार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः। इस पक्ष में भामह, दंडी, उद्भट, रुद्रट आदि सुप्रसिद्ध आचार्यगण हैं।

३–रीति पक्ष–रुद्रदामन के शिलालेख में चार गुणों स्फुट, मधुर कांत और उदार का उल्लेख हुआ है। नाट्यशास्त्र में दशगुण का ज़िक्र है और इसमें दिए नाम ही दंडी और वामन ने भी अपने ग्रंथों में रखे हैं। दंडी केवल शब्दों में ये गुण मानते हैं और वामन शब्द तथा अर्थ दोनों में मानते हैं। दंडी ने गुणों को अपने ग्रंथ में विशेष स्थान दिया है और लिखा है कि—

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि ॥ (१–४२)

साथ ही वह इन 'प्राणाः' को अलंकार के अन्तर्गत कहते हैं। इसीलिए दंडी प्रधानतः अलंकार पक्ष के माने जाते हैं। रीतिपक्ष के मुख्य पोषक वामन हैं। इन्होंने तीन रीति मानी है–वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली।

४–वक्रोक्ति पक्ष–वक्रोक्ति शब्द का अर्थ बाण ने क्रीड़ालाप या परिहास–जल्पित माना है। दंडी कहते हैं—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥

अर्थात् श्लेष से वक्रोक्ति की शोभा बढ़ती है और वह स्वभावोक्ति से विपरीत है। वक्रोक्तिजीवितकार कहता है कि यद्यपि शब्द साधारणतः भाषा ही के होते हैं पर कवि उनका चुनाव बड़ी खूबसूरती से करता है और उनमें भावों तथा वस्तुओं का ऐसा संगठन करता है कि वह कार्य साधारण मनुष्यों की शक्ति के बाहर है। इस कारण वह वक्रोक्ति को कविता की आत्मा समझता है पर यह कथन अलंकार पक्षवालों ही के कथन सा निस्सार है, मिष्ट भाषण तथा आभूषण को नायिका की आत्मा

बतलाने के समान है। यह पक्ष अलंकार पक्ष के अन्तर्गत ही है और इसे अलग पक्ष न मानना ही उचित है।

५–ध्वनि पक्ष–शब्दावली के अभिधेयार्थ अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न व्यंजना से जो प्रतीयमान अर्थ निकलता है, उसे ही ध्वनि कहते हैं और ऐसे ही अर्थयुक्त काव्य ध्वनिकाव्य कहलाते हैं। इस प्रकार की ध्वन्यात्मक रचनाएँ ही उत्तम कविता समझी जाती है और ध्वनि ही उसकी आत्मा है, ऐसा ध्वन्यालोककार का कथन है। ध्वनि के तीन भेद किए गए हैं—रस, अलंकार और वस्तु। काव्य के तीन भेद ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र बतलाया है। ध्वनि पक्ष रस पक्ष का विस्तार मात्र है और ध्वन्यालोककार ने स्वमत का पूर्णरूप से निरूपण किया है। इसीसे पंडित जगन्नाथ ने लिखा है–ध्वनिकृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्।

तात्पर्य यह है कि संस्कृत अलंकारशास्त्र अपने पूर्ण विकास को पहुँच गया था और अब उसका कार्य आधुनिक देशीय भाषाओं को सहायता पहुँचाना रह गया था।

२. संस्कृत अलंकारशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

राजशेखर काव्यमीमांसा में लिखता है कि पहिले पहल शिवजी ने ब्रह्मा को अलंकारशास्त्र बतलाया था। इसके अनंतर उन्होंने कितने ही शिष्य बनाए जिस शिष्यपरंपरा में अलंकारशास्त्र के अठारह अधिकरण के अठारह आचार्य हुए। इनमें से सुवर्णनाभ और कुचुमार का नाम कामसूत्र में आया है और भरतमुनि का रूपकों पर नाट्यशास्त्र प्राप्त ही है। यह सब होते भी सबसे प्राचीन ग्रंथ अग्निपुराण कहा जाता है जिसके ३३६–३४६ परिच्छेद अलंकारशास्त्र पर हैं। पुराण शब्द के कारण ही स्यात् इसकी प्राचीनता मान ली गई है पर यह सातवीं शताब्दि के पहिले की रचना नहीं हो सकती।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र वास्तव में सबसे प्राचीन लक्षण ग्रंथ है।

यह ग्रंथ काव्यमाला में प्रकाशित भी हो चुका है पर उसमें पाठ अशुद्धि बहुत है। काशी से इसका एक संस्करण निकला है, जो उससे कहीं अच्छा हुआ है। इसमें पाँच सहस्र अनुष्टुभ् श्लोक हैं। इसमें नाट्य विषय प्रधान है और उसी कारण रस, अलंकारादि का भी समावेश हुआ है। इसका समय विक्रम की दूसरी शताब्दि के लगभग हो सकता है।

मेधाविन् नामक आचार्य का भामह ने उल्लेख किया है। नमिसाधु भी इस नाम का उल्लेख करता है और दोनों ने इनके उपमा के सात दोष बतलाने का उल्लेख किया है। इनकी कोई रचना अब तक नहीं मिली है। यद्यपि इनके बाद धर्मकीर्ति का नाम लिया जाता है पर इन्होंने अलंकार शास्त्र पर कुछ लिखा है, या नहीं इसका कुछ भी निश्चय नहीं है।

भट्टि काव्य २२ सर्गों तथा चार काण्डों में विभक्त है। इनमें केवल एक प्रसन्न काण्ड (१०–१३ स०) काव्य विषयक है, जिनमें अलंकार, गुण आदि का वर्णन है। अन्य व्याकरण विषयक हैं। इन्होंने वल्लभी के राजा धरसेन के आश्रय में इसे लिखा है। वल्लभी में इस नाम के चार राजे हुए, जिनमें पहिले का समय निश्चित नहीं। दूसरे का प्राचीनतम लेख सन् ५७१ ई० का है। इसलिये भट्टि का समय छठी शताब्दि के अंतर्गत है।

इसके अनंतर भामह–दंडी काल आता है और जैसा कि आगे विवेचना की जायगी भामह दंडी के पहिले हुए थे। ये दोनों ही प्रसिद्ध आचार्य हो गए हैं और दंडी के विषय में लिखते हुए भामह के बारे में भी बहुत कुछ लिखा गया है। भामह का काव्यालंकार सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। छ परिच्छेदों में चार सौ श्लोक विभाजित हैं। पहिले में वही विषय है जो काव्यादर्श में दिये गए हैं। दूसरे में गुणों के साथ २ अलंकार का आरम्भ हो जाता है, जो तीसरे में समाप्त होता है। चौथे और पाँचवें में दोष तथा छठे में शब्दावली के शुद्ध होने का विवरण है।

उद्भट का समय राजतरंगिणीकार ने निश्चित कर दिया है—

विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥

यह काश्मीर नरेश जयापीड के विद्वन्मंडल के सभापति थे, जिनका राज्यकाल सन् ७७६–८१३ ई० है। इनके ग्रंथ का नाम अलंकारसार–संग्रह है जो छ सर्गों में विभक्त है। इसमें ७६ कारिका और सौ उदाहरण हैं। इन्होंने ४१ अलंकारों का वर्णन किया है।

वामन का काव्यालंकार सूत्र तीन भाग में है—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। पूरा ग्रन्थ ५ अधिकरणों और १२ अध्यायों में बँटा हुआ है तथा कुल सूत्र ३१६ हैं। इनमें भी वही काव्य का प्रयोजन, परिभाषा, दोष, गुण, अलंकारादि का विवरण है। इन्होंने अनेक कवियों का उद्धरण दिया है, जिससे उन लोगों के समय–निर्धारण में बहुत सहायता पहुँचती है। इनका समय प्रायः उद्भट ही के आसपास है और यह भी काश्मीर नरेश जयापीड़ के एक मंत्री थे।

रुद्रट के काव्यालंकार में १६ अध्याय हैं और आर्या छंद में रचा गया है। इसमें ७३४ श्लोक हैं, जिनके सिवा नायिका भेद के प्राप्त १४ श्लोक प्रक्षिप्त माने जाते हैं। प्रथम दो अध्यायों में काव्य का प्रयोजन, साधन और रीति, भाषा तथा वृत्ति का विवरण है। तीसरे से दसवें तक अलंकारों का, ग्यारहवें में दोष और बारहवें से पन्द्रहवें तक रसों का वर्णन है। सोलहवें में काव्य के भेदों का विवरण है। इनका समय नवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है। रुद्रभट्ट कृत शृंगारतिलक भी प्राप्त हुआ है, जिसे लोग रुद्रट का मानते हैं पर अधिकतर इनके दूसरे व्यक्ति होने ही की संभावना है।

आनंदवर्धनाचार्य का ध्वन्यालोक सुविख्यात ग्रंथ है, जो चार उद्योतों में विभक्त है। इसमें १२६ कारिकाएँ हैं जिनपर वृत्ति लिखी गई है और उदाहरण दिए गए हैं। पहिले उद्योत में वाच्य और प्रतीय-

मान अर्थों का विवेचन करते हुए ध्वनि क्या है, यह बतलाया गया है। दूसरे में ध्वनि के व्यंग्य द्वारा हुए भेदों का वर्णन है और तीसरे में व्यंजक द्वारा किए गए भेदों का। चौथे में प्रतिभा का ध्वनि पर क्या प्रभाव है, प्रधान एक होना चाहिये इत्यादि वक्तव्य है। यह राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर नरेश अवंतिवर्मा के सभा में थे, जिनका समय (८५५-८८३ ई०) है।

राजशेखर ने अठारह अध्यायों की काव्यमीमांसा लिखी है। पहिले में काव्यशास्त्र की पौराणिक 'उत्पत्ति, दूसरे में शास्त्रनिर्देश, तीसरे में काव्य-पुरुषोत्पत्ति, चौथे में पदवाक्यविवेक, पाँचवें में कवियों के भेद, छठे में काव्य शरीर, शब्द-वाक्य-विवरण, सातवें में भाषा तथा रीति, आठवें में काव्य-वस्तु के आधार, नवें में विषयभेद, दसवें में कविचर्या, राजचर्या, कला आदि, ग्यारहवें से तेरहवें तक पूर्व कवियों के भावापहरण का औचित्यानौचित्य, चौदहवें से सोलहवें तक कविसमय सिद्ध बातें, सत्रहवें में देशविभाग और अठारहवें में काल विभाग वर्णित है। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है।

मुकुलभट्ट की अभिधावृत्ति-मातृका साधारण पुस्तक है। भट्टतौत ने काव्यकौतुक लिखा है। भट्ट नायक का हृदय-दर्पण ध्वनि पक्ष के विरोध में लिखा गया था। इनका समय दसवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध हो सकता है।

वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक ने प्रायः अन्य लोगों ही की कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण सभी लेकर अपनी रचना पूरी की थी। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। इनका समय दसवीं शताब्दि का अंत है। धनंजय ने दशरूप में रसपक्ष पर विवेचन किया है इसीलिये इसका यहाँ उल्लेख किया गया है। यह नाट्यकला पर ग्रंथ है और इनका समय दसवीं शताब्दि का अंत है।

राजानक महिम भट्ट ने व्यक्तिविवेक ध्वनि पक्ष के खंडनार्थ लिखी

थी। यह श्री धैर्य का पुत्र तथा श्यामल का शिष्य था। यह काश्मीरी थे और ग्यारहवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में हुए थे। भोज का सरस्वती-कंठाभरण बड़ा ग्रंथ है और इसमें संकलन भी अधिक हुआ है। इसमें दोष, गुण, अलंकारादि का विस्तार से वर्णन है। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं और इनका समय ग्यारहवीं शताब्दि का पूर्वार्ध है।

क्षेमेंद्र ने कवि-कंठाभरण और औचित्यविचारचर्चा तथा अन्य कई ग्रंथ लिखे हैं। यह काश्मीरी थे तथा राजा अनंतवर्मा (राज्यकाल १०२८–१०६३ ई०) के समय में थे।

इसके बाद सुप्रसिद्ध मम्मट का समय आता है, जिनका ग्रंथ काव्य प्रकाश के नाम से विख्यात है। इसमें ग्रंथकार ने पूर्व के विवेचित सभी विषयों का समावेश किया है और उनपर अपनी तर्क प्रणाली से नया प्रकाश डाला है। यह ग्रंथ दस उल्लास में बँटा है और केवल १४२ कारिकाओं में काव्य शास्त्र के सभी विषय आ गए हैं। इन्होंने अन्य कवियों के छ सौ उदाहरण उद्धृत किए । इस ग्रंथ की रचना में अलक या अलट नाम के भी एक विद्वान का हाथ था। यह ग्रंथ इतना लोकप्रिय हुआ कि इसपर प्रायः सत्तर टीकाएँ लिखी गईं। यह ग्रंथ ग्यारहवीं शताब्दि के अंत या बारहवीं के आरंभ में लिखा गया होगा।

रुय्यक का अलंकार सर्वस्व भी प्रख्यात ग्रंथ है। यह ध्वनि पक्ष के समर्थक थे। इन्होंने भी उदाहरण प्रायः दूसरों ही के रखे हैं और कई ग्रंथ लिखे हैं। इनके शिष्य मङ्खक ने अपने गुरु की रचना में कहीं कहीं कुछ अपने ग्रंथ से लेकर जोड़ दिया है। रुय्यक का समय बारहवीं शताब्दि का मध्य है।

वाग्भट्ट का वाग्भटालंकार दो सौ साठ श्लोकों का छोटा सा ग्रंथ है जो पाँच अध्यायों में बँटा हुआ है। यह बारहवीं शताब्दि के अंत में उपस्थित रहे होंगे। हेमचंद्र का काव्यानुशासन सूत्र, वृत्ति तथा टीका

तीन भाग में है। कुल ग्रंथ में ८ अध्याय हैं। यह काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक और काव्य प्रकाश के आधार पर संकलित हुआ है। यह जैन साहित्यिकों में प्रमुख हुए हैं और इन्होंने खूब लिखा है। इनका जन्म सन् १०८८ ई० में और मृत्यु सन् ११७२ ई० में हुई थी।

पीयूषवर्ष जयदेव कृत चन्द्रालोक अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है। इसमें साढ़े तीन सौ श्लोक हैं और दस मयूख में विभाजित है। उदाहरण इन्होंने निज के दिये हैं तथा विशेषतः एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनों दिया है, जिससे विद्यार्थियों को याद करने में बड़ी सुगमता होती है। इनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा था। इन्होंने प्रसन्न राघव नाटक भी लिखा था। इनका समय तेरहवीं शताब्दि का आरम्भ हो सकता है। यह ग्रंथ इसी माला में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है।

भानुदत्त ने रसतरंगिणी और रसमंजरी दो पुस्तकें लिखी हैं। प्रथम में भाव विभावादि रस विषयक और द्वितीय में नायिका भेद विवरण है। यह गंगातटस्थ विदेह के रहनेवाले गणेश्वर के पुत्र थे। यह तेरहवीं शताब्दि के लेखक थे।

विद्याधर की एकावली में भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं जो सब इन्हीं की रचना है। इनके आश्रयदाता उत्कल-नरेश नृसिंह दो हुए हैं। प्रथम केसरि नरसिंह (१२८२–१३००) और दूसरे प्रताप नरसिंह (१३०७–१३२७) थे। इससे यही निश्चय होता है कि विद्याधर तेरहवीं शताब्दि के अंत में रहे होंगे।

विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण तेलिंगाना के काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव के लिये बनाया गया था। इसमें भी कारिकाएँ, वृत्ति तथा उदाहरण दिए गए हैं और नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार पर नौ प्रकरण हैं। प्रताप-रुद्र का समय विक्रमीय चौदहवीं शताब्दि का मध्य है।

एक अन्य वाग्भट्ट का काव्यानुशासन भी मिलता है जो जैनी नेमिकुमार के लड़के थे। यह ग्रंथ पाँच अध्यायों में विभक्त है। चौदहवीं शताब्दि में इनका वर्तमान होना जान पड़ता था।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ चंद्रशेखर के पुत्र थे। यह उड़ीसा के रहनेवाले थे और कलिंग नरेश के यहाँ सांधिविग्रहिक महापात्र पद पर नियुक्त थे। यह वैष्णव थे। यह सुकवि थे और इस लिए अपने विशद ग्रंथ में उदाहरण स्वरचित ही रखे हैं। इन्होंने काव्य, नाटिकादि सात आठ ग्रंथ बनाए हैं। यह भी चौदहवीं शताब्दि में वर्तमान थे। साहित्यदर्पण बड़ा ग्रंथ है और इसमें दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों का पूरा विवरण है। इनकी भाषा सरल और सुगम है तथा विद्यार्थियों के बहुत काम की है।

केशव मिश्र का अलंकारशेखर आठ रत्न और २२ मरिचियों में विभक्त है। यह भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण युक्त है जिसमें से कारिका शौद्धोदनि की रची कही जाती है। यह काँगड़ा के राजा माणिक्यचन्द्र के लिये लिखी गई थी।

अप्पय्य दीक्षित ने, कहा जाता है कि, सौ से अधिक ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें तीन साहित्य शास्त्र पर हैं। वृत्ति-वार्तिक शब्द शक्ति पर लिखा गया है और कुवलयानन्द चन्द्रालोक की व्याख्या तथा अलंकार ग्रंथ है। चन्द्रालोक में एक सौ अलंकारों का वर्णन है। इसमें २४ अलंकार और बढ़ाए गए हैं। चित्रमीमांसा में काव्य के ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र तीन भेद तथा अलंकारों के विवरण दिए गए हैं। अप्पय्य दीक्षित का समय सत्रहवीं शताब्दि का आरम्भ है।

पंडितराज जगन्नाथ अंतिम विख्यात आचार्य हो गए हैं, जिनका रस गंगाधर साहित्य शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में परिगणित है। ग्रंथ भी बड़ा है और काव्य की परिभाषा से आरम्भ किया गया है। इसमें इन्होंने अपने अनेक शास्त्र ज्ञान का परिचय भी खूब दिया है, जिससे

यह ग्रंथ विद्वानों ही के परिशीलन के योग्य है। यह पुस्तक अपूर्ण प्राप्त है। इन्होंने चित्र मीमांसा खंडन, भामिनिविलास, गंगालहरी, आसफ-विलास और मनोरमा कुचमर्दनम् लिखा है। जगन्नाथ तैलंग ब्राह्मण पेरुभट्ट के पुत्र तथा शेष वीरेश्वर के शिष्य थे। शाहजहाँ ने इन्हें पंडित-राज की पदवी दी थी। इनका समय सत्रहवीं शताब्दि का मध्य भाग है। इसके अनंतर कुछ साहित्य शास्त्री हुए तथा कुछ पुस्तकें भी लिखी गईं पर वे उपयोगी नहीं हुईं, क्योंकि संस्कृत की पुत्रियाँ हिन्दी आदि में अब ऐसी रचनाओं के होने ही में महत्व बच रहा था।

३. हिंदी अलंकार शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

विषय-प्रवेश

सत्रहवीं शताब्दि विक्रमीय के अंत तक हिंदी में बहुत कुछ साहित्य तैयार हो चुका था और उसके इतिहास के भक्ति काल के सूर्य, चंद्र आदि प्रमुख कविगण अपनी अमर रचनाओं से इसके साहित्य-भांडार को सुशोभित कर चुके थे। हिंदी के उसी स्वर्णयुग में साहित्यकारों, साहित्य प्रेमियों तथा जनसाधारण को काव्य-कला के ग्रंथों की आवश्यकता ज्ञात हो चुकी थी और इस ओर भी कुछ कार्य आरंभ कर दिया गया था। जिस प्रकार व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है उसी प्रकार रीतिग्रंथ का प्रणयन भी उच्च कोटि के साहित्य ग्रंथों के निर्माण के बाद ही होता है। हिंदी के सौभाग्य से उसे उसकी माता संस्कृत का अमूल्य, अक्षय कोष मिल गया है, जिससे उसके पास सहज ही बिना विशेष परिश्रम के बहुत सा साधन प्रस्तुत है और जिससे वह खूब लाभ उठा सकती है पर दैवयोग कहिए या अपना दुर्भाग्य तथा अकर्मण्यता कहिए अब तक उसका उचित उपयोग नहीं किया गया है। हिंदी साहित्य के आरंभिक कालों के सुकविगण प्रायः संस्कृत के ज्ञाता थे और हिंदी में रीति ग्रंथों के अभाव पर भी उस विषय के संस्कृत ग्रंथों के कारण

काव्यकला के मर्मज्ञ थे। रीति-काल में, जो विक्रमीय सं० १७०० से सं० १६०० तक माना गया है, कुछ कवियों को छोड़कर प्रायः सभी अन्य कवियों ने काव्यशास्त्र के एक एक अंग लेकर अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा कहीं कहीं भ्रामक परिभाषाएँ देकर उनके उदाहरणों के लिखने में अपनी सारी कवित्वशक्ति दिखला दी है। अलंकार, नायिकाभेद, नखशिख आदि पर ग्रंथों की भरमार हो गई। पर उन सब में रचयिताओं की कवित्वशक्ति उदाहरणों की रचना में प्रस्फुटित हुई है, उपयुक्त विवेचना में नहीं हो पाई। तात्पर्य इतना ही है कि जिस प्रकार संस्कृत में आचार्यवर्ग अलग था उस प्रकार हिंदी में न हो सका। इसका एक प्रधान कारण उस काल में गद्य का अभाव है, जिसकी गंभीर विवेचना के लिए विशेष आवश्यकता होती है। रीति-काल में भाषा का भी नियंत्रण होना चाहिए था पर इसके विपरीत 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कैसिहु होय' का सिद्धांत प्रसरित हो गया। शब्दों को तोड़ मरोड़कर प्रयोग करने का, ब्रज-अवधी आदि भाषाओं के शब्दों के सुविधानुसार मिश्रण करने का वे लोभ संवरण न करते थे। इस काल में धनलिप्सा के कारण प्रमुख कविगण तक धनी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए लाखों मनुष्यों के हृदयाधार आराध्यदेव श्रीराधाकृष्ण को साधारण नायिका-नायक रूप में मानकर उनकी केलि का वर्णन कर अपने कलुषित हृदयों का परिचय देते थे तथा इस कार्यकलाप को धनोपार्जन का सुगम मार्ग बना लेते थे। यही कारण है कि शृङ्गार रस पर विशेष कविता हुई और यह रस प्रायः निंद्य सा हो गया पर सर्प मुख में पड़कर दुग्ध के विष हो जाने से दुग्ध विष नहीं हो सकता।

रीति-काल के पहिले भक्तिकाल में कुछ रचनाएँ काव्यशास्त्र के कुछ अंगों पर लिखी जा चुकी थीं। सं० १५६८ वि० में किसी कृपाराम ने अपनी रचना हिततरंगिणी में रसों का कुछ निरूपण किया था और इन्होंने अपने कुछ पूर्ववर्ती कवियों की ऐसी रचनाओं का उल्लेख

भी किया है जिनका अब तक पता नहीं है। चार सौ दोहों में यह रचना है और ये दोहे अत्यंत सुंदर, सरस तथा भावमय हैं। कहीं कहीं तो ये बिहारी के दोहों से टक्कर लेते हैं और कहीं कहीं मिल से जाते हैं। इनके अनंतर सं० १६१६ वि० में मोहनलाल मिश्र ने शृङ्गार सागर नामक बड़ा ग्रंथ लिखा, जिसमें नायिका भेद, अलंकार आदि का साधारण विवेचन है। भाषा भी शिथिल है और कवित्वशक्ति भी साधारण है। सत्रहवीं शताब्दि विक्रमीय में नौ दस कवियों ने और भी कई रीति-ग्रंथ लिखे हैं, जिनका उल्लेख नीचे तालिका में किया गया है। इसी शताब्दि में अष्टछाप के सुकवि नंददासजी ने रसमंजरी में नायिकाभेद तथा विरहमंजरी में विप्रलंभ शृङ्गार पर कुछ लिखा है। बलभद्र मिश्र ने नखशिख पर एक छोटी रचना तैयार की और नवाब अब्दुर्रहीम खाँ खानखानाँ ने बरवै नायिकाभेद में केवल उदाहरण दिए हैं। यह सब होते भी महाकवि केशवदासजी ही पहिले आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है। इनके बाद प्रायः पचास वर्ष तक कोई अच्छा रीतिग्रंथ नहीं लिखा गया।

आरंभिक रीतिकार

सुकवि केशवदासजी का जन्म सं० १६१२ में तथा मृत्यु सं० १६७४ वि० में हुई थी। यह ओड़छा-नरेश राज वीरसिंह देव तथा उनके भाई इंद्रजीतसिंह के आश्रय में रहे और इनका इतना यहाँ सम्मान था कि यह कभी कहीं अन्यत्र आश्रय की खोज में नहीं गए। यही वह सुकवि हैं, जिन्होंने संस्कृत की आचार्य-परंपरा का हिंदी में आरंभ किया है और बहुत अच्छी प्रकार किया है। इनके ग्रंथों में एक नखशिख पर है। रामचंद्रिका प्रबंध काव्य है पर यह अनेक प्रकार के छंदों के उदाहरणों के संग्रह रूप में बनाया गया है। रसिकप्रिया सं० १६४८ में तैयार हुई थी और

केशवदास

इसमें रसों पर, विशेषतया शृंगार पर लिखा गया है। इस कारण नायिका भेद, हाव-भाव आदि की भी काफी विवेचना है। कविप्रिया सं० १६५८ में प्रस्तुत हुई, जिसमें अलंकारों पर विशेष रूप से लिखा गया है और गुण-दोष, नख-शिख, चित्र काव्य आदि की भी काफी विवेचना है। यह ग्रंथ बहुत अच्छा बन पड़ा है। रामचंद्रिका भी इसी वर्ष पूरी हुई थी। इनके अन्य ग्रंथ रीति पर नहीं हैं।

चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर उपनाम नीलकंठ चारों तिकवाँपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे। चिंतामणि ने सं० १७०७ वि० में कविकल्पतरु ग्रंथ लिखा, जिसमें गुण-दोष, अलंकार, ध्वनि, भाव आदि का विस्तृत विवरण दिया है।

त्रिपाठी-बंधु

इन्होंने पिंगल पर एक ग्रंथ छंदविचार के नाम से लिखा है। इनके सिवा काव्यविवेक तथा काव्यप्रकाश भी इनके ग्रंथ कहे जाते हैं। खोज से रसमंजरी नामक एक रचना का भी पता लगता है। वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण ने शिवराजभूषण नाम से अलंकार ग्रंथ बनाया है। शिवाजी, साहूजी तथा पन्नानरेश छत्रसाल के आश्रय में इन्होंने बहुत सम्मान प्राप्त किया था और प्रथम तथा द्वितीय से देशभक्त वीरों के यशकीर्तन से इनकी कविता सारे भारतवर्ष में लोकप्रिय हो गई। यद्यपि शिवराजभूषण में अलंकारों ही का निरूपण हुआ है पर वह विवेचन ऐसे प्रसिद्ध कवि के अनुरूप नहीं हो पाया। मतिराम भी रीतिकाल के प्रसिद्धतम कवियों में से हुए हैं और इनके रसराज तथा ललितलाम ग्रंथ रस तथा अलंकार पर अच्छे बन पड़े हैं। इनमें जो रससिक्त प्रसादमय उदाहरण दिए गए हैं उनसे रस अलंकारादि अच्छी प्रकार समझे जा सकते हैं और इसीलिए अध्ययन में भी काम आते हैं। इनके सिवा छंदसार (सं० १७५८), साहित्यसार, लक्षण शृंगार तथा अलंकार पंचाशिका (सं० १७४७) चार ग्रंथ और कहे जाते हैं, जिनके विषय भी काव्यकला संबंधी हैं। इनकी भाषा में बना-

वट तथा आडंबर का अभाव है और वह सहज स्वाभाविक तथा सरसतापूर्ण है। नीलकंठ उपनाम जटाशंकर ने एक ग्रंथ अमरेशविलास लिखा है।

मारवाड़-नरेश महाराज यशवंतसिंह ने अपनी प्रायः सारी आयु युद्धक्षेत्र में व्यतीत की थी और इतने प्रतापी थे कि सम्राट् औरंगजेब भी इनका पूरा सम्मान करता था। यह संस्कृत तथा भाषा के अच्छे ज्ञाता थे और तत्त्वज्ञानी भी थे। इन्होंने स्वयं कई ग्रंथ लिखे तथा सुकवियों और विद्वानों को आश्रय दिया। इन्होंने चंद्रालोक की संक्षिप्त प्रणाली ग्रहण कर भाषा-भूषण नामक एक अलंकार ग्रंथ लिखा, जिसमें एक दोहे की एक अर्द्धाली में परिभाषा तथा दूसरे में उसका उदाहरण दिया है। इस कार्य में यह बहुत सफल हुए और इसी के कारण यह हिंदी साहित्यक्षेत्र में आचार्य कहलाए।

यशवंतसिंह

यह प्रयाग (सिगरौर) के निवासी शुक्ल ब्राह्मण थे। इनका जन्म और मृत्यु सं० नहीं ज्ञात है। इन्होंने सं० १६९१ वि० में सुधानिधि नामक एक बड़ा ग्रंथ ५६० छंदों में लिखा है, जिसमें रसों तथा नायिकाभेद का विशद वर्णन है। काव्य के कई अंगों पर इन्होंने अच्छा विचार किया है और इस कारण आचार्यत्व के साथ अच्छी कवित्वशक्ति भी प्रदर्शित की है। इन्होंने और भी ग्रंथ लिखे हैं। लक्षणों के साथ सरस उदाहरण दिए हैं और इनकी भाषा में सौकुमार्य तथा प्रवाह है। यह लोकप्रिय कवि हो गए हैं। इस नाम के एक और भी कवि हुए हैं।

तोषनिधि

कुलपति मिश्र बिहारीलाल के भांजे कहलाते हैं। यह संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और जयपुर-नरेश मिर्जाराजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह के आश्रित थे। इन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर सं० १७२७ वि० में रसरहस्य नामक ग्रंथ लिखा है, जिसमें कहीं कहीं गद्य

कुलपति

में कुछ टीका सी भी कर दी गई है। भाषा क्लिष्ट हो गई है और विषय का गंभीर निरूपण भी नहीं हो पाया है। इसमें काव्य, शब्दार्थ, ध्वनि, व्यंग्य, गुण-दोष, अलंकारादि की विवेचना है। इसके सिवा द्रोणपर्व, नखशिख, संग्रामसार तथा युक्तितरंगिणी चार अन्य ग्रंथ भी इनके मिले हैं, जो सं० १७४३ वि० तक की रचनाएँ है।

सुखदेव

सुखदेव मिश्र कंपिला-निवासी थे और काशी में भी बहुत दिन रहे। इन्होंने सात आठ राजा बाबुओं का आश्रय क्रमशः लिया था और प्रायः इतने ही ग्रंथ भी लिखे थे। इनमें वृत्तविचार, छंदविचार, रसार्णव आदि रीति ग्रंथ हैं, इन्होंने अपने दो ग्रंथों में सं० १७२८ (वृत्तविचार) तथा सं० १७३३ रचनाकाल दिया है। प्रथम दो में पिंगल का अच्छा वर्णन है और उदाहरण भी बहुत अच्छे भक्ति रस से भरे हुए दिए हैं। रसार्णव में नवरस का सुंदर वर्णन है तथा नायिका भेद भी वर्णित है। फाजिलअली प्रकाश में गणागण तथा रस भेद वर्णित है। इनमें आचार्यत्व तथा कवित्व दोनों ही समान थे और यह साधु प्रकृति के पुरुष थे।

कालिदास

महाकवि कालिदास त्रिवेदी कान्यकुब्ज के निवासी थे। इनके पुत्र कवींद्र तथा पौत्र दूलह भी सुकवि हो गए हैं। इनका ग्रंथ बारबधू विनोद प्रसिद्ध है, जिसमें नायिकाभेद का विवरण है और इसका निर्माणकाल सं० १७४९ वि० है। यह शाहजहाँ बादशाह के आश्रित थे और गोलकुंडा की चढ़ाई का ओजपूर्ण वर्णन किया है। जंजीराबंद एक छोटा काव्य है तथा इनके स्फुट पद भी मिलते हैं। इनका एक संग्रह-ग्रंथ कालिदास-हजारा प्रसिद्ध है, जिसमें अपने समय तक के २१२ कवियों के छंद संकलित किए हैं।

देव

देव इटावा-निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे पर कुछ लोग दुसरिहा कान्यकुब्ज मानते हैं। इनका जन्म सं० १७३० और मृत्यु सं० १७८५ है। सोलह वर्ष की अवस्था ही से यह कविता करने लगे। उदार आश्रयदाताओं की खोज में यह बहुत घूमे और बहुतों के लिए अनेक ग्रंथ रचे। कहा जाता है कि इन्होंने बावन या बहत्तर ग्रंथ लिखे थे पर छब्बीस के नाम मिलते हैं और इनमें से भी सब प्रकाशित नहीं हुए हैं। देवजी अपने पूर्व निर्मित ग्रंथों से कुछ पद लेकर तथा कुछ नए बनाकर अपने नए आश्रयदाता के लिए झट ग्रंथ तैयार कर लिया करते थे। यह बड़े प्रतिभाशाली कवि थे पर इनका आचार्यत्व समय के अनुसार ही रहा और यह भी उचित, गंभीर तथा विशद व्याख्या नहीं कर पाए। यद्यपि इनकी कविता बहुत उत्कृष्ट है पर वह लोकप्रिय नहीं हो सकी और इनका काव्यक्षेत्र सौंदर्योपासना ही के भीतर रहा पर लौकिक प्रेम मात्र होने के कारण विशेष ऊँचे नहीं उठ सका। भाषा पर पूरा अधिकार होते हुए भी भरती के तथा तोड़े मरोड़े शब्द कम नहीं हैं। तात्पर्य यह कि रीतिकाल के अग्रगण्य कवि होते भी यह उच्च कोटि के आचार्य न हो सके। भाव-विलास, भवानी-विलास, सुजान विनोद, सुखसागर तरंग, काव्य-रसायन, कुशल-विलास आदि इनके अच्छे रीति ग्रंथ हैं।

सुरति मिश्र

सुरति मिश्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा आगरा-निवासी थे। यह एक सुकवि तथा साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनकी विद्वत्ता इनकी लिखी बिहारी सतसई, रसिकप्रिया आदि की टीकाओं से प्रकट है। इन्होंने सं० १७६८ में अलंकारों पर अलंकार-माला ग्रंथ और रसरतन या रसरत्नमाला नायिका-भेद तथा रसों पर क्रमशः लिखा था। इसके सिवा काव्यसिद्धांत नामक एक रचना का और भी पता खोज में लगा है। अलंकारमाला में एक एक दोहे में परिभाषा तथा लक्षण दोनों दिए हैं। सं० १७६१ में लिखे

गए सरस रस नामक एक ग्रंथ का सरोज से पता चलता है। उक्त ग्रंथों के सिवा कृष्ण चरित्र, रामचरित्र आदि इनकी और भी रचनाएँ हैं। इनमें कवित्वशक्ति के साथ आचार्यत्व भी कम नहीं था।

श्रीपति कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा कालपी के रहनेवाले थे। यह भाषा-साहित्य के आचार्यों में मान्य हैं। इनमें कवित्वशक्ति अच्छी थी और इनकी कविता दोषरहित होते हुए सरस हुई है। इन्होंने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है और अच्छा लिखा है। इनका काव्यसरोज सं० १७७७ वि० की रचना है और इसमें इनके रचे हुए कविकल्पद्रुम का उल्लेख है, इससे यह रचना सं० १७७७ वि० के पहिले की है। खोज तथा विनोद में 'विनोदाय काव्य सरोजे अर्थदोष निरूपणं' को लेकर एक नया ग्रंथ मान लिया गया है पर यह अशुद्ध है। खोज के उद्धरण देखे जाते तो यह अशुद्धि न होती। एक ही ग्रंथ का पूर्वांश एक ग्रंथ तथा उत्तरांश दूसरा ग्रंथ मान लिया गया है। इसी प्रकार अनुप्रास रचना अँग्रेजी में लिखे जाने के कारण खोज के विवरण तथा विनोद में अनूपरास हो गई है। यह भी स्वतंत्र ग्रंथ है या किसी का अंश है, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। इनके सिवा विनोद में अलंकार-गंगा, विक्रमविलास आदि इनके ग्रंथ कहे गए हैं। श्रीपतिजी ने आचार्यों के समान विवेचन करने में विशेष प्रयत्न किया है और बहुत कुछ सफल भी हुए हैं।

श्रीपति

भिखारीदास 'दास' श्रीवास्तव्य कायस्थ प्रतापगढ़ के अंतर्गत ट्योंगा के निवासी थे। इन्होंने आठ नौ ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें छंदार्णव या छंदोर्णव (सं० १७६६), काव्यनिर्णय (सं० १८०३) तथा शृंगार निर्णय इनके मुख्य रीति ग्रंथ हैं और प्रकाशित हो चुके हैं। रससारंग (सं० १७६१) में शृंगार का प्रधानतः तथा अन्य रसों का वर्णन है। प्रथम तीन भी विशद ग्रंथ हैं

दास

और इनमें क्रमशः पिंगल तथा काव्य के विविध अंगों का सुविवेचित वर्णन किया है। इनका ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था तथा यह सरल और आडंबरहीन भाषा के पक्षपाती थे। यद्यपि यह भी काल के अनुरूप आचार्यत्व को कवित्व से अलग न रख सके पर तब भी कहा जा सकता है कि इनमें प्रथम के गुण विशेष थे। दासजी के रीति ग्रंथ आज भी आदर की दृष्टि से पढ़े जाते हैं। विनोद में इनके रचे अमर-कोष, विष्णुपुराण आदि कई ग्रंथों का उल्लेख है पर वे रीति ग्रंथ नहीं है।

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण तथा जयपुर के निवासी थे। इन्होंने सं० १७९४ वि० में रस-पीयूषनिधि नामक एक बड़ा ग्रंथ समाप्त किया,

सोमनाथ

जिसमें काव्यकला के प्रायः सभी अंगों का अच्छा विवेचन किया है। पिंगल, पदार्थ-निर्णय, ध्वनि, रस, अलंकार आदि सभी को बड़ी सरल सुगम रीति से समझाया है। यह भावुक तथा सहृदय कवि भी थे और ब्रजभाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था। सरल मधुर भाषा में दोषरहित कविता करते थे और यह उन इने गिने सुकवियों में से हैं, जो आचार्य कहे जा सकते हैं। उक्त ग्रंथ के सिवा इन्होंने कई अन्य काव्य ग्रंथ भी लिखे हैं तथा रामायण के कई कांडों का पद्यमय अनुवाद भी किया है।

रघुनाथ काशी-नरेश बलवंतसिंह के आश्रित तथा उनके दरबार के राजकवि थे। इन्होंने रसिकमोहन सं० १७९६ वि० में अलंकारों पर, काव्यकलाधर सं० १८०२ में भाव, रस तथा नायिकाभेद पर तथा

रघुनाथ

जगतमोहन सं० १८०७ वि० में अष्टयाम अर्थात् श्रीकृष्ण की दिनचर्या वर्णन करते हुए अनेक विषयों पर लिखा है। राजनीति, न्याय, ज्योतिष आदि के साथ साथ रत्न, सेना, अश्व, नगर, वनपक्षी आदि का भी अच्छा वर्णन किया है। इश्क महोत्सव में खड़ी बोली का पुट अधिक है। यह एक सुकवि थे तथा काव्यकला समझाने का भी इन्होंने अच्छा प्रयास किया है। इनके पुत्र

गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ तथा शिष्य मणिदेव भी सुकवि हो गए हैं।

कालिदास के पुत्र उदयनाथ कवींद्र सहृदय कवि हो गए हैं, जिन्होंने शृंगार पर रसचंद्रोदय ग्रंथ सं० १८०४ वि० में लिखा था। एक कवींद्र का रसदीप या रस दीपाख्य नामक ग्रंथ खोज में मिला है, जिसका रचनाकाल सं० १७९९ दिया है। यह नायिकाभेद, रस आदि पर लिखा गया है।

उदयनाथ कवींद्र, दूलह

कवींद्र के पुत्र दूलह राय कान्यकुब्ज ब्राह्मण कालिदास त्रिवेदी के पौत्र थे, जिन्होंने नायिका-भेद पर वारबधूविनोद बनाया था तथा कालिदास-हजारा नाम से एक संग्रह-ग्रंथ तैयार किया था। इनका कविकुल कंठाभरण प्रसिद्ध ग्रंथ है। छोटा होते भी यह माधुर्य, प्रौढ़ता आदि के कारण लोकप्रिय तथा मनोरंजक हो उठा है। यह अलंकारों पर लिखा गया है तथा चंद्रालोक के अनुसार है। इनके स्फुट छंद भी मिलते हैं।

बेनी प्रवीण लखनऊ-निवासी वाजपेयी ब्राह्मण थे। इन्होंने नवरस तरंग, शृंगार भूषण तथा नानाराव प्रकाश तीन ग्रंथ बनाए हैं। स्फुट पद भी मिलते हैं। भँडौआवाले बेनी ने प्रसन्न हो भेद करने के लिए इन्हें प्रवीण की पदवी दी थी। प्रथम ग्रंथ नायिकाभेद, रस, भाव आदि पर लिखा गया है। अन्य दोनों में भी प्रायः ये ही विषय रखे गए हैं। कविता में सरसता तथा माधुर्य के कारण यह रीति-काल के सुकवियों में माने जाते हैं। भाषा संयत तथा प्रवाहपूर्ण है।

बेनी प्रवीण

पद्माकर बाँदे के तैलंग ब्राह्मण मोहनभट्ट के पुत्र थे, जो स्वयं विद्वान् तथा सुकवि थे। इन्होंने नागपुर, पन्ना, जयपुर आदि कई राज्यों में सम्मान तथा जागीर पाई थीं। पद्माकर का जन्म सं० १८१० वि० में और मृत्यु सं०

पद्माकर

१८६० वि० में हुई थी। इन्होंने भी कई मराठा तथा राजपूत राज्यों में आश्रय प्राप्त किया था। इनकी रचनाओं में जगद्विनोद सं० १८६७ वि० में तैयार हुआ, जिसमें भाव, रस आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनकी यह रचना विशद होते बहुत ही अच्छी बन पड़ी है और इसीलिए बहुत प्रसिद्ध भी है। इसी समय के लगभग अलंकारों पर पद्माभरण ग्रंथ लिखा, जो दोहों में ही लिखा गया है। ये दोनों ही शृंगार प्रधान ग्रंथ हैं। भाषा पर पद्माकरजी का पूरा अधिकार था और कहीं सरल प्रवाह है तो कहीं दर्पपूर्ण ओज भरा हुआ है। मुक्तक छंद लिखने में यह बहुत सफल हुए हैं।

प्रतापसाही

चरखारी-नरेश विक्रमसाहि के आश्रित कवि प्रतापसाहि ने आठ नौ ग्रंथ रीति पर लिखे हैं, जिनमें कई प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सं० १८८२ में व्यंग्यार्थ-कौमुदी शब्दशक्ति पर पहिले पहिल लिखा। सं० १८८६ में युगल नखशिख तथा काव्यविलास दो ग्रंथ लिखे। इसके अनंतर शृंगार मंजरी (सं० १८३२), सं० १८३७ में शृंगार-शिरोमणि तथा अलंकार-चिंतामणि और सं० १८३६ में काव्य विनोद लिखा। इन्होंने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर लिखा है और सफल कवि होते हुए भी इनमें आचार्यत्व की मात्रा कम नहीं थी। रीतिकाल के यह प्रायः अंतिम प्रसिद्ध कवि हुए हैं। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और वह कहीं शिथिल नहीं होने पाई है।

सेवक

बा० देवकीनंदन के आश्रित असनी के ठाकुर के पुत्र सेवक भी उसी वंश के आश्रित थे। इन्होंने वाग्विलास नामक नायिकाभेद का एक बड़ा ग्रंथ बनाया है और बरवै छंद में नखशिख नामक एक छोटा ग्रंथ भी लिखा है। इनका जन्म सं० १८७२ में हुआ था और सड़सठ वर्ष की अवस्था में यह

परलोक सिधारे। इनके सवैये आकर्षक तथा मनोहर होते थे। पद्य में इनका रचा हुआ मुद्राराक्षस सुना जाता है।

गिरिधरदास

भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र के पिता बा० गोपालचंद्र ही का उपनाम गिरिधरदास था। इनका जन्म सं० १८९० वि० में तथा मृत्यु सं० १९१७ वि० में हुई थी पर इसी छोटी अवस्था में इन्होंने चालीस ग्रंथों की रचना की थी। इन्होंने भारतीभूषण नामक एक अलंकार ग्रंथ ३७८ दोहों में लिखा है, जिसमें एक दोहे में लक्षण तथा एक में उदाहरण दिया है। हाव, भाव आदि पर रसरत्नाकर ग्रंथ लिखा है, जो अपूर्ण है। ग्रीष्म-वर्णन पर भी एक पुस्तक लिखी है। इन्हें यमक अनुप्रास बहुत प्रिय थे तथा काव्य-ग्रंथों में दुरूह शब्दों का भी अधिक प्रयोग है। संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे तथा कई स्तोत्र आदि भी बनाए हैं।

सरदार

सरदार ललितपुर निवासी हरिजन के पुत्र तथा काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह के आश्रित थे। यह साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ तथा सुकवि थे। इन्होंने केशवदास की कविप्रिया तथा रसिकप्रिया पर विशद टीका लिखी है। इनके सिवा साहित्य-सुधाकर तथा व्यंग्यविलास की रचना की है। ऋतुओं पर ऋतुविलास ग्रंथ लिखा है। इनके अन्य काव्य-ग्रंथ बड़े मनोहर हैं तथा टीकाएँ विद्वत्तापूर्ण हैं। यह अच्छे कवि थे और साहित्यिक विवेचन भी प्राचीन ढंग पर अच्छा किया है।

यहाँ तक हिंदी साहित्येतिहास का प्राचीन-काल समाप्त होकर वर्तमान-काल आरंभ होता है और जितने रीतिकारों का उल्लेख किया जा चुका है, वे प्रायः उस काल के प्रमुख कवि थे। इस संक्षिप्त इतिहास के अंत में एक तालिका दी जाती है, जिससे ज्ञात होगा कि इनके सिवा

कितने और कवि हो गए हैं, जिन्होंने इस विषय को लेकर अपनी-अपनी कवित्व शक्ति दिखलाई है तथा यह सूची भी पूर्ण नहीं है।

वर्तमान-काल में काव्यकला के किसी अंग पर गद्य में लिखने का अभी आरंभ नहीं हुआ है। भाषा-व्याकरण के समान इस कला पर भी गद्य ग्रंथों की विशेष आवश्यकता है, जिससे उसके सभी अंगों की समुचित विवेचना हो और अध्ययन तथा पठन-पाठन में सुगमता तथा सुबोधता आ जाय। आधुनिक आचार्यों में अभी वही धुन समाई है तथा वे पद्य के फंदे से छुटे नहीं हैं। बा० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के छंद प्रभाकर तथा काव्य-प्रभाकर विशद ग्रंथ हैं। लाला भगवानदीन का अलंकार-मंजूषा तथा व्यंग्यार्थ-मंजूषा भी अच्छी रचनाएँ हैं पर ये सभी उसी पुराने ढंग की हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का काव्य-कल्पद्रुम अवश्य विशद ग्रंथ है और गद्य की व्याख्याएँ बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। विवेचना के साथ साथ समझाने का भी स्तुत्य प्रयास है और उदाहरण भी गद्य तथा पद्य दोनों के दिए गए हैं। यह अब रसमंजरी तथा अलंकारमंजरी नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

संस्कृत में सभी काव्यांगों पर पूरी विवेचना प्रसिद्ध आचार्यों ने की है जिनके ग्रंथों का अनुवाद हिंदी में अपेक्षित है। प्राचीन आचार्यों में केवल दंडी के काव्यादर्श का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। बाद के आचार्यों में जयदेव के चंद्रालोक, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण तथा जगन्नाथ के रसगंगाधर के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इन ग्रंथों के मनन से गद्य में लिखे गए ग्रंथ विशेष उपादेय होंगे।

संख्या	ग्रंथकार	ग्रंथ	समय	विशेष
१	गोप	अलंकार चंद्रिका	१५६० सं०	
२	सुंदरदास ग्वालिअरी, महाकविराय	सुंदर श्रृङ्गार	र०का० १६८८	खो० रि० १६०२ सं० ३
३	हरीराम	छंद रत्नावली	१६५१ के लग०	खो० रि० १६१२-१४
४	छेमराम	फतेह प्रकाश	१६६० ”	खो० रि० १६०३ सं० १३६
५	निधान	जसवंतविलास	र० का० १६७४	खो० रि० १६१२-१४ सं० १२३
६	तुलसीदास	रसकल्लोल, रसभूषण	१७११	विनोद ३६२
७	बारन	रसिकविलास	१७३०	खो० रि० १६०५ सं० ६३
८	बलराम	रसविवेक	१७३३	” १६०४ ” २५
९	प्रद्युम्नदास	काव्यमंजरी	१७३६	” ” १४
१०	ब्रजनाथ	पिंगल	१७३२ के लगभग	” १६०६-८ सं० १४२
११	बलवीर	पिंगल-मनहरण, दंपति-विलास, नख-शिख उपमा वर्णन	१७४१-५६	” १६०१ सं० ८२ १६०२ ” २७-८
१२	वृंद	भावप्रकाश पंचाशिका, श्रृङ्गारशिक्षा, सतसई	१७४३-६१	” १६०० ” १२१ ” १६०२ ” ६,४२

संख्या	ग्रंथकार	ग्रंथ	समय	विशेष
				” १९०९–११ सं० ३३५
१३	कुंदन बुंदेलखंडी	नायिकाभेद	१७५२	वि० ५५८
१४	करण कवि	रसकल्लोल, साहित्यरस	१७५७	” १११० खो० रि० १९०४ सं० १५
१५	नंदकिशोर	पिंगल प्रकाश	१७५८	” ६१५।१
१६	खड्गराय	रसदीपक, नायिकादीपक	१७६५, १७७५	खो० रि० १९१२-१४ सं० ९२
१७	कुमारमणि मिश्र	रसिकरसाल,	१७६७	वि० ६४१।१
१८	कलानिधि	नखशिख, अलंकार कलानिधि, वृत्तचंद्रिका	१७६९	वि० ६६८ खो० रि० १९०६-८ सं० ३०२
१९	मुरलीधर	काव्य विनोद, रस विनोद	१७७०	वि० ६३९
२०	अब्दुर्रहमान	नखशिख	१७७०	खो० रि० १९०३ सं० ५०
२१	गोप	रामालंकार या रामचंद्राभरण, पिंगल प्रकरण	१७७३–९०	” १९०६–८ सं० ३९
२२	याकूब खाँ	रसभूषण	१७७५	वि० ६७३

संख्या	ग्रंथकार	ग्रंथ	समय	विशेष
२३	जयकृष्ण	छंदसार पिंगल, रूपदीपक, पिंगल, नामरूप पिंगल	१७७६	वि० ६७८ पंजाब खो० रि० सं० ४६
२४	खंडन	भूषणदाम	१७८२	रि० १६०६–८ सं० ५६
२५	गंजन	कमरुद्दीन खाँ हुलास	१७८५	खो० रि० १६०३ सं० ६५
२६	रसिक सुमति	अलंकार चंद्रोदय	१७८५	वि० ६५५ खो० रि० १६०८–११ सं० २६५
२७	संलम खाँ	शृंगार दर्पण	१७८६	वि० ७०३
२८	शंभूनाथ	अलंकार दीपक	१७८७ लगभग	खो० रि० १६०६–८ सं० २३३
२९	रसपुंजदास	प्रस्तार प्रभाकर, वृत्तविनोद	१७८७	वि० ७०६
३०	देवदत्त, जाजमऊ	लालित्यलता	१७६१	वि० ७१५।१
३१	दशरथ राय	नवीनाख्य नायिका भेद	१७६१	खो० रि० १६०६–११ सं० ५८
३२	गोविंद	कर्णाभरण	१७६१	वि० ७५२ पं० रि० ३४
३३	रसलीन	अंग दर्पण, रस प्रबोध	१७६४, ६६	वि० ७२१
३४	गोपाल	राम अलंकार, पिंगल प्रकरण	१७६७	रि० १६०६–८ सं० ३६
३५	शिव	रसिक विलास, अलंकार भूषण, पिंगल	१७६६	वि० ७३४

संख्या	ग्रंथकार	ग्रंथ	समय	विशेष
३६	वंशीधर	अलंकार रत्नाकर	१७६८	वि० ७१७ खो० रि०
३७	दत्त	सज्जन विलास, लालित्यलता	१८०४	१६१२–१४ सं० १८,४५ रि० १६०३ सं० ३६ वि० ६६३
३८	बदन	रस दीपक	१८०८	रि० १६०५ सं० ५७
३९	रसरूप	तुलसी भूषण	१८११	रि० १६०४ सं० ११
४०	रूपसाहि	रूपविलास	१८१३	वि० ८५८
४१	गुमान मिश्र	अलंकार दर्पण, गुलाल चंद्रोदय	१८१८	वि० ७३६ रि० १६१२–१४ सं० ६८
४२	बैरीसाल	भाषाभरण	१८२५	वि० ८७१
४३	जवाहिर राय	जवाहिरकार, शिखनख	१८२६	रि० १६१२–१४ सं० ८४
४४	रतन	फतेह भूषण, अलंकार दर्पण	१८२७	वि० ८७५
४५	हरिनाथ	अलंकार दर्पण	१८२७	रि० १६०६–८ सं० १७०
४६	जगतसिंह	छंद शृंगार, साहित्य सुधानिधि नखशिख, चित्र मीमांसा	१८२७-७७	वि० ८७६
४७	नारायणदास	छंदसार, पिंगल मात्रा	१८२८	रि० १६०६–८ सं० ७८
४८	रामजी	बरवै नायिका भेद, शृंगार सौरभ	१८३०	वि० ४३२
४९	ऋषिनाथ बंदीजन	अलंकार मणि मंजरी	१८३१	वि० ६४७।५

संख्या	ग्रंथकार	ग्रंथ	समय	विशेष
५०	मनीराम मिश्र	छंद छप्पनी	१८२६	वि० ८८४
५१	रामसिंह, महाराज	अलंकार दर्पण, रसनिवास, रसविनोद, जुगलविलास	१८३०–४५	वि० ६८०
५२	हरिचरणदास	कवि वल्लभ, सभा प्रकाश	१८३५	रि० १६०६–८ सं० २५५
५३	भोजराज	भोजभूषण, रसिक विलास	१८४० लगभग	रि० १६०५ सं० ६५ रि० १६०३ सं० ५६
५४	देवकीनंदन	शृंगार चरित्र, अवधूत भूषण	१८४०–५६	वि० ६७६
५५	हरप्रसाद	शृंगार चंद्रिका, शृंगार सरोज	१८४३–४५	रि० १६१२–१४ सं० ७०
५६	चंदन बंदीजन	काव्याभरण, नखशिख, शृंगारसार, रस-कल्लोल, केसरी प्रकाश, पीतम वीर विलास	१८१०–५६	वि० ६६८ रि० १६१२–१४ सं० ३४
५७	भान	नरेंद्र भूषण	१८४५	वि० ६८१
५८	समनेश	रसिक विलास	१८४७	रि० १६०६–८ सं० २२७
५६	थान	दलेल प्रकाश	१८४८	वि० ६८३
६०	बेनी	रसविलास, टिकैतराय प्रकाश	१८४६–७४	वि० ६८५
६१	मौन	शृंगार रत्नाकर, रस रत्नाकर	१८५०	वि० ६८७
६२	उत्तमचंद भंडारी	अलंकार आशय	१८५० लगभग	रि० १६०२ सं० १८
६३	जसवंतसिंह तिरवाँ नरेश	शृंगार शिरोमणि	१८५६	वि० ११०५

संख्या	ग्रंथकार	ग्रंथ	समय	विशेष
६४	भोगीलाल	अलंकार प्रदीप, बख्तविलास	१८५६	वि० ११२।१
६५	जगन्नाथ	जगत रसरंजन	१८६२	रि० १६१२–४ सं० ७८ वि० ११२२
६६	सुवंश शुक्ल	पिंगल	१८६५	रि० १६०६–११ सं० ३०६
६७	संग्रामसिंह	काव्यार्णव	१८६६	रि० १६०६–११ सं० २७६
६८	शिवप्रसाद	रसभूषण	१८६७	रि० १६०६–८ सं० १०६
६६	अमीरदास	सभामंडन, दूषणोल्लास	१८८४	रि० १६०६–८ सं० १२४
७०	जीवन	वरिवंड विनोद	१८७३	रि० १६१२–१४ सं० ८६
७१	रामसहाय दास	वृत्त तरंगिनी, बानी भूषण	१८७३	रि० १६०४ सं० २३–४
७२	गोपालराय भट्ट	रससागर, ध्वनिविलास, भावविलास दूषणविलास, भूषणविलास	१८८५–१६०७	रि० १६१२–१४ सं० ६२
७३	गोबिंद	गोविंदानंद घन,	१८८५	” ” ६५
७४	गोकुलनाथ	चेतचंद्रिका	१८८६	रि० १६०४ सं० १२
७५	काशिराज	चित्र चंद्रिका	१८८६	रि० १६०६–१२ सं० १४५
७६	विश्वनाथसिंह बघेला, महा०	उत्तम काव्यप्रकाश	१८६६	रि० १६०३ सं० ५३
७७	दामोदर देव	रससरोज, शिखनख	१८८८	रि० १६०६–८ सं० २४
७८	हरप्रसाद या हरिदास	रसकौमुदी, अलंकारदर्पण	१८६७	रि० १६०५ सं० ६५ रि० १६०६–८ सं० ४६

३

संख्या	ग्रंथकार	ग्रंथ	समय	विशेष
७६	रणधीर सिंह, राजा	पिंगल व नामार्णव, काव्यरत्नाकर	१८६४–७	रि० १६०६–८ सं० ३१६
८०	निहाल	साहित्यशिरोमणि (मम्मट के अनुसार)	१८६३	रि० १६०३ सं० १०५
८१	ग्वाल, मथुरा निवासी	रसरंग, अलंकार, रसिकानंद, दूषणदर्पण	१८६१–१६०४	रि० १६०२सं० ८४,८८-६० रि० १६०५सं० ११-२
८२	स्कंदगिरि	रसमोदक	१६०५	,, ३२
८३	रामकृष्ण	नायिकाभेद	,,	,, ७७
८४	पजनेस	मधुप्रिया	,,	,, ६३
८५	गजराज	सुवृत्तहार	१६०३	रि० १६०३ सं० ७१
८६	कान्ह	नखशिख	१६०३ लगभग	,, ६०
८७	चंद्रशेखर	रसिक विनोद	,,	,, १०३
८८	रघुबर दयाल	छंद रत्नमाला	१६१२	
८६	गदाधर भट्ट	अलंकार चंद्रोदय, छंदोमंजरी		
६०	लछिराम	महेश्वर विलास, रामचंद्र भूषण		
६१	नंदराम	शृंगारदर्पण	१६२६	
६२	प्रयागीलाल	रसानुराग	१६३०	रि० १६०५ सं० ५१
६३	मन्नालाल द्विज	साहित्य सिंधु, शृंगार सरोज, शृंगार सुधाकर	१६४२	
६४	कविराज मुरारिदान	यशवंत यशोभूषण	१६५०	
६५	नवनीत चौबे	छंद नवनीत	१६६० ?	

४. शब्दशक्ति

भाषा में अलंकरण

मानव-हृदय में क्रोध, क्षोभ, अमर्ष, हर्ष आदि अनेक प्रकार के मानसिक विकार सुप्तावस्था में पड़े रहते हैं और स्थिति तथा अवसर विशेष पर कारणवश वे उद्‌बुद्ध होते रहते हैं। इनके उद्‌बोधन पर आप ही आप मनुष्य की भावभंगी में, आकृति-विकृति में, बोलने में वाधा-प्रगल्भता-स्वरभंग आदि होने से तथा भाषा की गड़बड़ी से साधारण रूप से बहुत विभिन्नता आ जाती है। इन विकारों के लिए मनुष्य को कोई प्रयत्न करने को वाध्य नहीं होना पड़ता पर ये सब आप से आप स्वभावतः हो जाते हैं और उनके प्रकटीकरण के बाद पुनः धीरे-धीरे शांत हो जाते हैं। इस प्रकार के विकार-ग्रस्त मनुष्य को देखकर या उसकी बातें सुनकर ही लोग समझ सकते हैं कि वह किस स्थिति में है। जैसे कोई किसी को जोर से 'जा जा जा जा' कहते हुए सुने तो तुरंत समझ जायगा कि वह किसीको रोष तथा क्षोभ में दुरदुरा रहा है क्योंकि साधारण तौर पर एक बार 'जाओ' कह देना ही काफी है। किसी के आने पर प्रणामांतर आदर में लोग 'आइए' कहकर बैठाते हैं पर यदि आगंतुक के आने से विशेष प्रसन्नता होती है तो मुख पर प्रसन्नता के खिल उठने के साथ साथ वह 'आइए, आइए, पधारिए, बहुत दिनों पर दर्शन दिया' आदि भी कह उठता है। किसी मूर्ख निपढ़े को देखकर उसकी प्रशंसा में जब एक कवि कह उठता है—'साहित्य-संगीत-कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' तब साधारण लोग कह देते हैं कि 'वह निरा गधा है।' दोनों ही उसे वास्तव में कोई पशु नहीं मान लेते पर पशु के समान विद्या-बुद्धि-हीनता की चरम सीमा तक उसे पहुँचाकर छोड़ देते हैं। इसी प्रकार जब वे किसी अत्यंत प्रतिभाशाली विद्वान की प्रशंसा करने लगते हैं तब उसे अपने समय का

वृहस्पति बतलाते हैं या वह वही है या उसके समान विद्वान 'न भूतो न भविष्यति' आदि कहते हैं। इसी प्रकार अनेक रूप से वे अपने भाव भाषा में व्यक्त करते हैं, जिनमें साधारण रूप से कहने की प्रणाली में कुछ विशेषता आ जाती है और उससे शब्दों के कोरे अर्थ के सिवा और भी कुछ प्रकट होता है। तात्पर्य यह कि भाषा में कुछ सजावट या शोभा बढ़ जाती है और ऐसी ही भाषा अलंकृत कही जाती है। जहाँ तक यह सजावट स्वाभाविक होती है, वहीं तक वह भाषा की श्रीवृद्धि करती है पर इससे अधिक होने पर वह भार सी हो उठती है और अपनी नैसर्गिक शोभा भी खो देती है।

अलंकरण क्या है ?

भाषा का यह अलंकरण या सजावट गद्य तथा पद्य दोनों ही में समान रूप से होता है या हो सकता है पर पद्य में इसका जितना अच्छी प्रकार तथा विशेष चमत्कार लिए हुए प्रयोग हुआ है या हो सकता है उतना गद्य में नहीं। कितने प्रकार की ऐसी अलंकरण विधियाँ भी हैं, जिनका गद्य में प्रयोग हो भी नहीं सकता और इसीलिए पद्य ही में भाषा को अलंकृत करने का विशेष प्रयास किया जाता है। दृष्टांत के लिए स्त्री-पुरुष ही को लीजिए। स्त्री के लिए जितने प्रकार के अलंकार उनकी शोभा बढ़ाने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं, उतने पुरुष के लिए नहीं। गद्य यदि पुरुष है तो कोमलकांत पदावली स्त्री है। यही कारण है कि काव्य ही में भाषा को अलंकृत करने का कवियों ने विशेष प्रयास किया है, गद्यकारों ने नहीं। यह दूसरी बात है कि गद्य लिखते लिखते स्वतः भावावेश में अलंकरण का समावेश विशेष रूप से हो जाय। पहिरने के साधारण अलंकार की परिभाषा जिस प्रकार सहज में की जा सकती है कि वह चाँदी, सोने तथा रत्नों से बनी हुई धारण करने योग्य वस्तु है उसी प्रकार भाषा के अलंकार की नहीं की जा सकती। जो परिभाषा अबतक ग्रंथों में पाई गई है वह उस प्रकार

की है जैसे साधारण आभूषण की यों परिभाषा की जाय कि जिससे सौंदर्य की शोभा वृद्धि हो उसे गहना या आभूषण कहते हैं। सौंदर्य की शोभा वृद्धि तिलक, तिल, अंजन आदि से भी होती है पर वे आभूषण नहीं हैं। इसलिए पहिले देखना चाहिए कि अलंकार किस प्रकार काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं और वह कौन सी सामग्री है जो इस प्रकार शोभा को बढ़ाती है तब उसकी परिभाषा करने का प्रयास किया जाय।

यह तो स्पष्ट ही है कि अलंकरण भाषा ही का होता है और शब्दों के कुछ विशिष्ट अर्थ लेने ही से भाषा में स्वतः ये अलंकार विकसित होते हैं अतः पहिले उस शब्दशक्ति पर कुछ विचार कर लेना चाहिए, जिससे साधारण तथा विशिष्ट अर्थ ग्रहण किए जाते हैं।

शब्द तथा वाक्य

'काव्यं वाक्यं रसात्मकम्' से ज्ञात होता है कि जिस वाक्य की आत्मा रसमय हो वही काव्य है। ऐसा एक वाक्य भी काव्य हो सकता है और अनेक संबद्ध वाक्यों के मिलने पर भी काव्य बन सकता है, जिनमें कुछ रसात्मक हों और कुछ न भी हों। इसी प्रकार वाक्य भी साधारणतः शब्दों का समूह कहा जाता है परंतु केवल कुछ शब्दों को एक साथ रख देने ही से वह वाक्य नहीं बन सकता और न यही है कि केवल एक शब्द पूरे वाक्य का कार्य न दे सके। वास्तव में एक या अनेक शब्दों में जब तक पूर्वापर का ध्यान रखते हुए अर्थ-गर्भित संबंध की प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती तब तक वह वाक्य का रूप धारण नहीं करता। जैसे 'हाथी, घोड़े आदि' मात्र कह देने से कोई वाक्य पूरा नहीं हुआ पर इसके बाद आ रहे हैं, जा रहे हैं आदि कुछ जोड़ दिया जाय तो सार्थक हो जाने से वाक्य पूरा हो जाता है। 'पुस्तकालय में कौन है ?' 'गोपाल'। ये दोनों वाक्य हैं, केवल गोपाल से तात्पर्य है 'गोपाल पुस्तकालय में है'।

अब यह विवेचनीय है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का जो सर्व-सम्मत तथा निश्चित अर्थ है उन्हीं का योग वाक्य का भी अर्थ होगा या कुछ और भी ? साथ ही यह भी विचारणीय होगा कि जिन शब्दों के कई अर्थ हैं, उनमें से कौन अर्थ लेना समीचीन होगा ? जब तक कोई शब्द किसी वाक्य या वाक्यांश का अंग नहीं बन जाता अर्थात् स्वतंत्र रहता है तब तक उसका वही एक या अनेक अर्थ माना जाता है, जो संकेतित अर्थात् निश्चित है पर जब वह किसी वाक्य में सम्मिलित हो जाता है तब उसका अर्थ वाक्य के तात्पर्य के अनुकूल ही लिया जाता है। ये अर्थ शब्दों की तीन शक्तियों द्वारा चुने जाते हैं, जिन्हें अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना कहते हैं।

वाक्य शब्दों से बनते हैं और शब्द अक्षरों से निर्मित होते हैं। एक या अनेक अक्षरों का समूह ही शब्द कहलाता है पर तब जब उसका कोई निश्चित अर्थ मान लिया गया हो। शब्द तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़ि, यौगिक व योगरूढ़ि।

१. **रूढ़ि**—वे शब्द जो किसी अन्य शब्द से व्युत्पन्न नहीं हुए हों, जैसे लोटा, घोड़ा।

२. **यौगिक**—वह शब्द जो दो या अधिक शब्दों के योग अर्थात् मेल से बना हो तथा उन सबके अर्थों के अनुकूल ही अर्थ दे, जैसे निशाकर, यूथप आदि।

३. **योगरूढ़ि**—वे शब्द जो यौगिक होते हुए रूढ़ि अर्थ दें या अनेक यौगिक अर्थ रखते हुए उनमें से एक रूढ़ि अर्थ दें। जैसे जलज, गिरिधर आदि।

यहाँ गिरिधर शब्द का यौगिक अर्थ गिरि को धारण करनेवाला है और ऐसे अनेक महापुरुष हो गए हैं पर यह शब्द भगवान श्रीकृष्ण के लिए रूढ़ि हो गया है।

इस प्रकार प्रत्येक शब्द के अर्थ होते ही हैं और ये अर्थ भी तीन

प्रकार से ग्रहण किए जाते हैं, जिन्हें शब्द-शक्तियाँ कहते हैं। ये अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना हैं।

अभिधा शब्दशक्ति

शब्दों के अर्थ देने की वह शक्ति जो उनके मुख्य संकेतित अर्थात् निश्चित अर्थ का बोध करा देवे वही **अभिधा** है। अभिधा से जिस अर्थ का बोध होता है वह **वाच्य** कहलाता है और जिस शब्द का अर्थ इस शक्ति से उद्‌बुद्ध हुआ है वह **वाचक** कहलाता है।

उदाहरण—सीस मुकुट, कर में लकुट, उर वनमाल रसाल।
जमुना तीर तमाल ढिग मैं देख्यो नँदलाल ॥

उक्त दोहे में जितने शब्द हैं सभी अपने मुख्य संकेतित वाच्य अर्थ ही को देते हैं और उन्हीं अर्थ को लेने से पूरे दोहे का भाव पूर्णतया समझ में आ जाता है अतः इसमें केवल अभिधा शक्ति ही उद्‌बुद्ध हुई है।

यह वाच्य अर्थ किस प्रकार संकेतित होता है या संकेत से ग्रहण किया जाता है इस पर भी विचार करना उचित है। संकेत भी कई प्रकार का होता है—साक्षात् या किसी संबंध से। जैसे किसी वस्तु को प्रत्यक्ष दिखलाकर कहा जाय कि यह अमुक वस्तु है तो वह साक्षात् संकेत है। किसी बालक का पिता उसे गाय दिखलाकर उसका गाय होना बतला देता है तो बालक उसकी कही हुई बात को प्रामाणिक मानकर उस संकेत को ग्रहण कर लेता है और जब वह यह भी बतलाता है कि इसी प्रकार की एक बनगाय भी होती है, जिसकी पूछ बिलकुल बालों की घोड़े की दुम के समान होती है तो वह उसके संबंध से यह समझ लेता है और जब जंगल में उसे देखता है तो पहिचान लेता है।

शब्दों के मुख्य अर्थ ग्रहण करने के अन्य अनेक साधन हैं जैसे—

१. कोष—इनमें शब्द देकर उसके अर्थ लिखे रहते हैं।

२. व्याकरण—एक प्रधान शब्द से व्याकरण द्वारा अनेक शब्द

बनाए जाते हैं और उन नियमों के अनुसार उनके अर्थ ग्रहण किए जाते हैं। जैसे, कृषक, धन्वी, दाशरथि, देवकी आदि।

३. साहचर्य—उक्त दो साधनों से एक शब्द के एक या अनेक अर्थ ज्ञात होते हैं पर जब किसी शब्द के कई अर्थ हों तब उसमें से एक अर्थ का ग्रहण उसके पास या साथ के अन्य शब्दों के संबंध से किया जाता है। जैसे, कृष्ण ने अर्जुन से कहा। इसमें 'अर्जुन' के कई अर्थ कोष से ज्ञात होते हैं पर इसमें कृष्ण के साहचर्य से पांडव अर्जुन ही का बोध होता है।

साहचर्य के अंतर्गत ही अर्थ-ग्रहण के अन्य अनेक साधन आ जाते हैं, जैसे—

क. शब्द-संयोग या असंयोग—अनेकार्थी शब्द अन्य शब्द के विशेषण रूप में साथ में रहने पर एक ही अर्थ देता है। जैसे 'हरि' के विष्णु, कृष्ण, सिंह, बंदर आदि अनेक अर्थ हैं पर अन्य शब्द के संयोग या असंयोग से इनमें से एक ही अर्थ लिया जाता है। उदा०—

१. 'चक्रधर हरि' में विष्णु संयोग।

२. 'हरि-लीला' में कृष्ण ,, ।

३. 'पुष्प-शर रहित हरि' में कामदेव असंयोग।

ख. विरोध-ज्ञान—शब्द के कई अर्थों में से एक का ग्रहण साथ के अन्य शब्द के विरोधी होने से किया जाता है। उदाहरण—

१. सिंह ने नाग के गंड को फाड़ डाला (हाथी)

२. मोर को देख नाग बिल में चला गया (साँप)

इनके सिवा देश-बल, काल-बल, औचित्य या अनौचित्य, अर्थ-प्रकरण आदि अनेक भेद अर्थ-ग्रहण के लोगों ने किए हैं पर ये सब गौण हैं, मुख्य साहचर्य ही है, जिसके कारण ही प्रसंग के अनुसार अर्थ-ग्रहण किया जाता है। जैसे, हरि डार पर बैठा है। यहाँ हरि का अर्थ बंदर डार शब्द के साहचर्य ही से लिया जायगा। यद्यपि कहा जाता

है कि यह अर्थ औचित्य या योग्यता से समझकर लिया गया है। यह समझना अन्य शब्द के साहचर्य ही से प्रसंगवशात् होता है।

लक्षणा शक्ति

अभिधा शक्ति की ऊपर जो परिभाषा दी गई है तथा विवेचन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि इस शक्ति द्वारा शब्द जो अर्थ देते हैं वे मुख्य निश्चित अर्थ हैं और इन मुख्यार्थों को छोड़कर, पर इनसे संबद्ध, जब किसी रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण या किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए दूसरा अर्थ लिया जाता है तब वह अर्थ जिस शक्ति द्वारा लिया जाता है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शक्ति शब्द का सांकेतित अर्थ न देकर, उसीसे संबंध रखते हुए दूसरा कल्पित या अमुख्य अर्थ देती है अतः यह शक्ति स्वतः अमुख्य कही जाती है। यदि अभिधा को प्राकृतिक कहें तो लक्षणा को अप्राकृतिक कहेंगे। इसके दो मुख्य भेद रूढ़ि या प्रयोजनवती लक्षणा हैं। केवल रूढ़ि या प्रसिद्धि के कारण अन्य अर्थ कल्पित करने से प्रथम और किसी प्रयोजन से ऐसा करने पर द्वितीय भेद होता है।

रूढ़ि या प्रसिद्धि से तात्पर्य यह है कि किसी शब्द के मुख्यार्थ से भिन्न अन्य कल्पित अर्थ भी इतना प्रसिद्ध हो गया है कि वह एक प्रकार लोगों में मुख्य अर्थ के समान प्रचलित है। जैसे, प्रिय को देखकर उसका मन खिल उठा। यहाँ खिलना का अर्थ प्रसन्न होना सभी तुरंत समझ लेते हैं। यद्यपि खिलने का कार्य कली का है पर यह भाव लेकर कि कली प्रसन्नता से खिलकर फूल हो जाती है इसलिए इसी मुख्य अर्थ से संबद्ध प्रसन्न होने का अर्थ कल्पित कर मान लिया गया है। लोग कहते हैं कि 'उसके मुख पर हँसी खेल रही है'। इसमें खेलने के मुख्य अर्थ का भाव लेकर ही अर्थ कल्पित किया जायगा क्योंकि हँसी कोई ऐसा जीव नहीं है कि खिलवाड़ कर सके। खेल कूद तथा हँसी दोनों ही

खेलने तथा हँसनेवाले में प्रसन्नता का भाव प्रकट करते हैं अतः दोनों ही अर्थ संबंधित हैं और हँसी का खेलना यही दिखलाता है कि प्रसन्नता का भाव मुख पर बराबर हँसने के रूप में प्रकट हो रहा है। एक प्रकार कह सकते हैं कि ये कल्पित अर्थ अब प्रायः मुहाविरों के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं। कविता में रूढ़ि लक्षणा का एक उदाहरण—

फल्यो मनोरथ रावरो, मोहिं परत पहिचानि।
प्रफुलित नयन बिलोकियत अंग अंग मुद खानि॥

इस दोहे में मनोर्थ के फलने तथा नेत्र के प्रफुल्लित होने का उल्लेख है पर फलना, फूलना वृक्ष या पौधे का कार्य है न कि मनोर्थ या नेत्र का। इस कारण इनका मुख्यार्थ लेने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता अतः लक्षणा से इन दोनों शब्दों के कल्पित अर्थ पूरा होना और प्रसन्न होना लिया जायगा, जो अर्थ अब रूढ़ि सा मान लिया गया है। ये अर्थ मुख्यार्थ से संबंधित भी हैं। मनोर्थ, अध्यवसाय, प्रयत्न में सफल होना या प्रसन्नता से फूल उठना साधारण बोलचाल में नित्य प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार लक्षणा के दो प्रधान भेद रूढ़ि तथा प्रयोजनवती हुए। रूढ़ि के भेदोपभेद नहीं किए गए हैं क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रसिद्धि अर्थात् प्रचलन ही इसका आधार है। * प्रयोजनवती के कई भेद किए गए

---

* साहित्यदर्पण में रूढ़ि के भी प्रयोजनवती के समान अनेक भेद पर वे विशेष स्पष्ट, सार्थक तथा आवश्यक नहीं ज्ञात होते क्योंकि सभी प्रसिद्धि ही के कारण हैं। जैसे पहिले एक उदाहरण उपादान-रूढ़ि लीजिए—'अबलक दौड़ में सबके आगे है।' इसमें घोड़े का रंग के अनुसार अबलक एक भेद है, जो प्र सद्ध है और बिना लक्षणा शक्ति का प्रयोग किए ही समझ लिया जाता है कि उस रंग का घोड़ा सबके आगे है। ऐसी अवस्था में जब लक्षणा ही के प्रयोग की आवश्यकता नहीं ज्ञात होती तब उसका भेद कैसा? अब रूढ़ि की

हैं क्योंकि प्रयोजन अनेक प्रकार के हो मकते हैं। पहिले इसके दो भेद शुद्धा और गौणी हैं। शुद्धा के चार उपभेद उपादान, लक्षण, सारोप और साध्यवसाना किए गए तथा गौणी के सारोप और साध्यवसाना दो उपभेद किए गए। अब प्रत्येक उपभेद तथा भेद के अलग अलग लक्षण तथा उदाहरण दिए जाते हैं।

जब मुख्यार्थ को किसी प्रयोजन या निमित्त से छोड़कर दूसरा अर्थ कल्पित किया जाता है तब प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसमें सादृश्य-संबंध से जब किसी प्रयोजन के लिए अन्य अर्थ लिया जाता है तब वह गौणी कहलाती है और सादृश्य के सिवा अन्य संबंधों से, जैसे, कार्य-करण, आधार-आधेय, जन्य-जनक, अंगांगी आदि, जहाँ प्रयोजन सिद्ध करने को जब अन्य अर्थ लिया जाता है तब वह शुद्धा कहलाती है। जैसे वह निरा बैल है। इसमें बैल शब्द का मुख्यार्थ एक चौपाया है पर मूर्खता, उद्दंडता, शक्ति आदि के सादृश्य-संबंध से एक प्रयोजन से यह अन्य कल्पित अर्थ लिया जाता है कि 'वह' भी बैल के समान ही मूर्ख, उद्दंड तथा बलवान है। इस कारण यह गौणी भेद है। शुद्धा के उदाहरणों में समता का भाव न होना चाहिए, जैसे बाण चल रहे हैं। यहाँ बाण स्वतः अपने आप चल ही नहीं सकते जब तक उन्हें कोई चलावे नहीं पर चलाने के बाद वे उस प्राप्त प्रेरक शक्ति से स्वतः चलते भी हैं जब प्रेरक दूर खड़ा रह जाता है। यहाँ

लक्षण-लक्षणा का उदाहरण लीजिए 'भारत वीर है'। यहाँ भारत देश से वहाँ के निवासियों से ही तात्पर्य है और किसी मुख्यार्थ का बाध करके कोई नया अन्य अर्थ नहीं लिया जा रहा है। इसी प्रकार रूढ़ि के अन्य भेद प्रयोजनवती के समान साहित्यदर्पण में किए गए हैं पर उनके उदाहरणों की विवेचना करने से ज्ञात होता है कि ये सब निस्सार हैं।

'बाण का चलना' का इतर अर्थ 'किसीके द्वारा प्रेरित होने पर बाण का चलना' कार्य-कारण संबंध से लिया गया है, किसी सादृश्य के संबंध से नहीं।

☛ अब क्रमशः शुद्धा के चार तथा गौणी के दो उपभेदों का विवरण दिया जाता है।

१. उपादान-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जब मुख्यार्थ के साथ साथ अन्य अर्थ की भी कल्पना की जाय अर्थात् लक्षणा से किसी प्रयोजन के लिए अन्य अर्थ जो सादृश्य के सिवा अन्य संबंध से लिया जाय पर साथ ही मुख्यार्थ भी अपेक्षित हो तब यह भेद होता है। इसे शास्त्रकार अजहत्स्वार्थावृत्ति भी कहते हैं। जैसे, उड़त गुलाल अबीर। गुलाल तथा अबीर पक्षी नहीं हैं कि उड़ें पर लक्षणा से चारों ओर वायु में फैलना अर्थ लिया जाता है। स्वतः ये फैल नहीं सकते अतः उड़ानेवाले का अर्थात् 'मनुष्य द्वारा फेंका हुआ' भाव का अध्याहार करना पड़ता है, जो कार्य-कारण संबंध से लिया गया है। साथ ही गुलाल अबीर का स्वतः फेंके जाने के बाद फैलना मुख्यार्थ भी अपेक्षित है।

२. लक्षण-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ का त्याग कर दिया जाता है और केवल लाक्षणिक अर्थ ही प्रधान हो जाता है। जैसे, मेरा मकान गंगाजी पर है। यहाँ गंगाजी के बिलकुल तट पर जल छूते हुए मकान ही से तात्पर्य है क्योंकि गंगाजी के जल के ऊपर मकान का बनना या स्थित रहना कल्पना के परे है। यहाँ मुख्यार्थ का लोप तथा लाक्षणिक अर्थ का प्राधान्य है और यह अर्थ आधार-आधेय संबंध से लिया गया है, सादृश्य से नहीं। साथ ही प्रयोजन यह है कि यों गंगाजी का तट बहुत दूर तक कहा जाता है पर यहाँ ठीक जल के पास होना बतलाना ध्येय है इसीलिए उसी पर होना कह दिया गया है। इसे जहत्स्वार्थावृत्ति भी कहते हैं।

३. सारोप-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जब एक वस्तु (उपमान) का

दूसरी वस्तु (उपमेय) पर आरोप करके, सादृश्य न दिखलाते हुए, अन्य अर्थ किसी प्रयोजन से लिया जाय। जैसे, चिंता-साँपिनि किसै नहीं खाती। यहाँ चिंता कोई जीव नहीं है कि कुछ खाय पर चिंता पर साँपिनि का आरोप करके, समता न दिखला करके, अन्य अर्थ विशेष कष्ट देना इस निमित्त लिया गया है कि चिंता से मनुष्य को मृत्यु से बढ़कर कष्ट होता है। यही लक्षणा रूपक अलंकार का बीज है।

४. साध्यवसाना-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा—जब एक वस्तु (उपमान) का दूसरी वस्तु (उपमेय) पर आरोप करते हुए पर जिसका आरोप हो उसका उल्लेख न कर केवल आरोप्य ही की प्रधानता देते हुए किसी प्रयोजन से अन्य अर्थ लिया जाय। जैसे—

आजु मोहिं प्यायी सुधा धनि, तो सम को आहि ?

यहाँ प्रेयसी पर धनि का और मिलन पर सुधा का आरोप है पर प्रेयसी तथा मिलन का कुछ भी उल्लेख नहीं है केवल धनि तथा सुधा की प्रधानता है। प्रेयसी से मिलने की आनंद-प्राप्ति ही अमृत पिलाने का लक्ष्यार्थ है, जो समता से न लिया जाकर अन्य संबंध से लिया गया है।

५. सारोप-गौणी-प्रयोजन-लक्षणा—जब सादृश्य के कारण एक वस्तु का दूसरे पर आरोप करते हुए किसी प्रयोजन-सिद्धि के लिए अन्य अर्थ लिया जाय। जैसे,

मृगनैनी बेनी फनी डस्यो सो बिष उतरै न।

इसमें आकार-वर्ण-सादृश्य से वेणी में सर्प का आरोप कर उससे दंशन कराया गया है, जिससे (प्रेम रूपी) विष नहीं उतरता। सादृश्य के कारण आरोप के साथ एक प्रयोजन से यह लक्ष्यार्थ लिया गया है अतः यह भेद हुआ।

६. साध्यवसाना-गौणी-प्रयोजन-लक्षणा—जब केवल आरोप्य या लक्षक ही कहा जाय तथा लक्ष्य का उल्लेख न हो। जैसे—

शशि में द्वै खंजन चपल ता ऊपर धनु तान।

चंद्रमा (रूपी मुख) में दो चपल खंजन (रूपी नेत्र) हैं और उन पर तना हुआ धनुष (रूपी भौं) है। इनमें मुख, नेत्र तथा भौं का, जो लक्ष्य या आरोप के विषय हैं, उनका उल्लेख भी नहीं है तथा सादृश्य के कारण कहा गया है अतः साध्यवसाना गौणी हुई।

लक्षणा के अन्य और भी भेद किए गए हैं पर उन सब का उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

व्यंजना

अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों से शब्दों के जो अर्थ ज्ञात होते हैं उनके सिवा एक और अर्थ की जो प्रतीति कभी कभी होती है, वही अर्थ व्यंग्य कहलाता है। जैसे कोई किसीसे कहता है कि 'क्यों नहीं, आप साक्षात् युधिष्ठिर हैं, भला आपकी बात को कौन सत्य न मानेगा'? वह उत्तर देता है कि 'भई, व्यंग्य क्यों करते हैं? हम तुमसे ठीक ही कह रहे हैं।' यहाँ पहिले वाक्य का अभिधा से साधारण अर्थ यही निकलता है कि आप युधिष्ठिर के समान सच्चे हैं इसलिए आपकी बात को कौन नहीं ठीक मानेगा अर्थात् सभी मानेंगे। शब्दों का यह अर्थ लगाकर अभिधा अलग हो जाती है और उसका कार्य समाप्त हो जाता है। परंतु इन शब्दों तथा उनके निश्चित अर्थों के सिवा एक अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है और वह उसके उत्तर से स्पष्ट होता है अर्थात् कहनेवाला का वह भाव नहीं है, जो अभिधा बतला रहा है प्रत्युत् ठीक उसका उलटा अर्थात् उसका भाव है कि आपकी बात को कोई सत्य न मानेगा, आप युधिष्ठिर नहीं हैं। यही दूसरा अर्थ व्यंजना से निकलता है, जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। व्यंग्यार्थ का बोध केवल शब्दों ही से नहीं होता प्रत्युत् शब्दों तथा अभिधा और लक्षणा द्वारा उसके अर्थों को लेकर दोनों से होता है।

जब अभिधा या लक्षणा अपनी अपनी शक्तियों द्वारा अर्थों का बोध कराके निवृत्त हो जाती हैं अर्थात् अपना कार्य पूरा कर लेती है तब जिस शक्ति द्वारा अन्य अर्थ का बोध होता है, उसे ही व्यंजना कहते हैं। अर्थ व्यंग्य कहलाता है और अर्थयुक्त शब्द व्यंजक कहलाते हैं।

इस प्रकार देखा जाता है कि अभिधा तथा लक्षणा दो के कारण व्यंजना के दो भेद हुए—अभिधामूला तथा लक्षणामूला। ये दोनों मुख्यतः शब्दों को लेकर ही कार्य करते हैं अतः ये शाब्दी कहलाए अर्थात् शाब्दी व्यंजना के ये दो भेद अभिधामूला तथा लक्षणामूला हुए। व्यंजना का अन्य भेद आर्थी है, जिसके दस उपभेद होते हैं और प्रत्येक के वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य के द्वारा संभाव्य होने से प्रत्येक के तीन तीन भेद होने से ये कुल तीस होते हैं।

१. अभिधा-मूला व्यंजना—अनेकार्थी शब्दों द्वारा बने हुए वाक्य या पद का जब अभिधा द्वारा एक अर्थ निश्चित कर दिया जाता है तब यदि अभिधा-शक्ति के शांत हो जाने पर दूसरा अर्थ भी सूचित होता है तब इसी दूसरे अर्थ की प्रतीति अभिधा-मूला व्यंजना द्वारा हुई कही जाती है।

इन अनेकार्थी शब्दों का जब प्रकरण के अनुसार एक अर्थ संयोग, साहचर्य आदि के द्वारा निर्णीत हो जाता है, तब उससे फिर जो कुछ अन्य अर्थ निकलता है वह उसी अभिधा-शक्ति द्वारा निकला हुआ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका व्यापार शांत हो चुका है। इस कारण यह व्यंजना द्वारा प्रतीत हुआ कहा जाता है पर वास्तव में देखा जाय तो वही अभिधाशक्ति दूसरा अर्थ लगाने में भी सहायक है, इसीलिए यह व्यंजना अभिधामूलक कही जाती है। जैसे—

भयो अपत कै कोप युत कै बौरो यहि काल।
मालिनि आजु कहै न क्यों वा रसाल को हाल॥ (दास)

अपत—अपत्र (पत्रहीन) अ+पत (प्रतिष्ठाहीन), कोप—कोंपल, क्रोध। बौरो—मंजरी—युत, पागल। रसाल—आम, रसिक।

इस दोहे में 'मालिनि' शब्द के संयोग से दोहे का अर्थ आम पर घटाया जायगा और इसीको अभिधाशक्ति मुख्य मानकर आम के संयोग या साहचर्य के कारण अन्य अनेकार्थी शब्दों के उन्हीं अर्थों का निर्णय करेगा जो उसके उपयुक्त हैं। अर्थात् वाच्यार्थ हुआ कि 'हे मालिनि आज तू उस आम का वृत्तांत क्यों नहीं कहती, क्या वह इस समय पत्रहीन हो गया या कोंपल से या मंजरी से भर गया है? अभिधाशक्ति यह अर्थ निर्णीत कर शांत हो जाती है पर वे अनेकार्थी शब्द कुछ और अर्थ भी ध्वनित करने लगते हैं। यह अर्थ भी उसी अभिधा द्वारा ही संगत ज्ञात होते हैं पर उसका कार्य समाप्त हो चुका है इसलिए यह अर्थ व्यंजना द्वारा लगाया हुआ कहा जायगा पर अभिधा-मूलक। दूसरा अर्थ मालिनि को दूती मानकर लगाया जा सकता है और ये दूतियों की कोटि में आती भी हैं। अर्थ होगा कि हे (दूती) मालिनि उस रसिक का कुछ वृत्तांत आज क्यों नहीं कहती, क्या वह इस समय प्रतिष्ठाहीन, क्रुद्ध या पागल हो गया है।

अर्थ-निर्णय के लिए जो कुछ साधन बतलाए गए हैं वे अभिधा तथा अभिधामूलक व्यंजना दोनों में समान बतलाए गए हैं पर इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों में केवल अनेकार्थी शब्दों के कौन अर्थ निश्चित किए जायँ यही भाव है। अभिधा में वे अनेकार्थी शब्दों के अर्थ निर्णय करते हैं पर अभिधामूलक में वे जो दो अर्थ वाक्य या पद के लगाए जाते हैं उनमें कौन शुद्ध अभिधा द्वारा है और कौन व्यंजना द्वारा है इसे स्पष्ट करते हैं। यह ऊपर के उदाहरण के अर्थ के पढ़ने से समझ में आ जायगा।

२. लक्षणा-मूला-शाब्दी व्यंजना—जब वाच्यार्थ के सुसंगत न होने पर लक्षणा से अर्थ की संगति बैठा ली जाय और तब उससे किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो तो वह लक्षणामूलक व्यंजना कहलाती है अर्थात् जिस शक्ति द्वारा उस अर्थ की प्रतीति होती है और जिसके लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वही लक्षणामूला व्यंजना है।

लक्षणा तथा व्यंजना में अवश्य ही कुछ भेद है और तभी ये दो मानी गई हैं पर एक सज्जन लिखते हैं कि 'लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के उदाहरण ऊपर दिए हुए लक्षणा के सभी उदाहरण हैं।' और इतना लिखकर आपने इस प्रकरण को समाप्त कर दिया है। इनके गुरुवर ने इस व्यंजना का अपनी रचना में उल्लेख भी नहीं किया है। दूसरे सज्जन लिखते हैं कि 'प्रयोजनवती लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहा जाता है वह व्यंग्यार्थ है। उस व्यंग्यार्थ का ज्ञान करानेवाली लक्षणा-मूला व्यंजना ही है, न कि अभिधा और लक्षणा।' अर्थात् दूसरे सज्जन प्रयोजनवती लक्षणा में जो प्रयोजन है उसे लक्षणामूला व्यंजना द्वारा प्रतीत हुआ मानते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि ये दोनों एक हैं। पर यह पहिले ही मूलतः कहा जा चुका है कि अभिधा तथा लक्षणा के विरत होने ही पर व्यंजना आरंभ होती है तब इन दोनों में भेद क्या है और कहाँ आरंभ होता है? साहित्यदर्पण में उदाहरण 'गंगायां घोषः' दिया है। गंगाजी पर घोष है, यह अभिधा से अर्थ हुआ पर इसके असंगत होने से लक्षणा से अर्थ लगाया जाता है कि गंगाजी के किनारे पर घोष है। अब प्रश्न उठता है कि ऐसा अर्थ क्यों लगाया गया अर्थात् इसका प्रयोजन क्या था? यदि कोई किसीके पास सटा आता है तो लोग कह बैठते हैं कि अरे सिर पर क्या चढ़े आते हो उसी प्रकार गंगाजी के एकदम किनारे पर होने से उस वाक्य का यह अर्थ लगाया गया। इतना कार्य कर प्रयोजनवती लक्षणा शांत हो जाती है पर इसके आगे भी कुछ प्रयोजन या भाव उस वाक्य से निकलता है और वह

यह है कि ऐसी स्थिति का घर जल की शीतलता, पवित्रता, हवा आदि से भी युक्त है और यह अर्थ-प्रतीति ही व्यंजना है। लक्षणाश्रया होने से लक्षणामूला कही गई। एक उदाहरण लीजिए—

तेरो रूप विलोकि कै छवि निज को धिक मानि।

वाच्यार्थ छवि को धिक मानना असंगत होने से लक्ष्यार्थ लिया जायगा कि अपने रूप को दूसरे की तुलना में बहुत घटकर माना। व्यंग्य यह हुआ कि तू अत्यधिक सुंदर है।

३. आर्थी-व्यंजना—वक्ता, बोधव्य (जिससे कहा जाय), अन्य का सन्निधान, काकु, वाच्य, प्रस्ताव, वाक्य आदि की विशेषता से अन्य अर्थ का जिससे बोधन हो वही शक्ति आर्थी-व्यंजना कहलाती है। इनमें शब्दों की प्रधानता नहीं होती, केवल अर्थ ही से मतलब रहता है। समानार्थी दूसरे शब्द भी रख दिए जायँ तो कुछ व्यतिक्रम नहीं होता। इन सब भेदोपभेदों के लक्षण तथा उदाहरण देने का यहाँ अवकाश नहीं है अतः दो एक उदाहरण दे दिए जाते हैं।

१. जदपि होत सुंदर कमल उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरन चंद सों करत बिरोध बनाव॥ (मुद्राराक्षस)

यद्यपि अभिधा से इसका साधारण अर्थ स्पष्ट है और शब्दों के बदलने से भी कोई व्यतिक्रम नहीं होने का है पर जिससे यह कहा गया है वह इसका व्यंजना से और ही अर्थ लेता है कि 'चंद्रगुप्त के वैरियों को जानता हूँ', ऐसा वक्ता कह रहा है इसलिए आर्थी बोधव्य व्यंजना हुई।

२. राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत जानिअहि प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील-सनेह-निधान॥

यहाँ वक्ता का साधारण कथन यह है कि आप दीनबंधु, सुखदायक तथा शील-स्नेह के भांडार हैं और यदि आप यह समझें कि चौदह वर्ष की अवधि भर हमारे प्राण बचे रहेंगे तो हमें अवध में रखिए। पर

व्यंग्यार्थ उलटा है कि हमारे प्राण नहीं बचेंगे और आप दीनबंधु आदि होते हुए हमारा प्राण लेने के लिए हमें अवध में मत छोड़ जाइए।

अलंकारों का क्रम-विकास

अलंकारों का भाषा में, काव्य या गद्य-लेख आदि में, प्रयोग होते हुए जब बहुत समय बीत गया होगा तब उसके बाद ही रीतिशास्त्रियों की इस ओर दृष्टि गई होगी और उन लोगों ने इनके नामकरण, लक्षण तथा उदाहरण आदि पर विवेचन आरंभ किया होगा। जिस प्रकार भाषा के साहित्यिक विकास के कुछ हो लेने पर व्याकरण, कोष आदि के निर्माण की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार लक्षण ग्रंथों की भी रचना होती है। अतः अलंकारों के क्रम-विकास से यह तात्पर्य नहीं है कि आलंकारिकों ने क्रमशः कुछ अलंकार निश्चित किए और तब उनका प्रयोग होने लगा प्रत्युत् ठीक इसके विपरीत ऐसा हुआ कि जिस आलंकारिक ने जितने अलंकारों का काव्य ग्रंथ मनन करते हुए पता पाया या अपनी प्रतिभा तथा साहित्यिक ज्ञान से पता लगाया उनका अपने ग्रंथ में नामकरण कर उनके लक्षणों की विवेचना की और उक्त ग्रंथों से उद्धरण लिए या स्वरचित उदाहरण दिए। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि वेद, उपनिषत् आदि में तथा रामायण और महाभारत आदि में बहुत से अलंकारों का बार बार प्रयोग हुआ है तथा इनमें सभी ग्रंथ प्रायः ढाई सहस्र वर्ष पूर्व के हैं पर आलंकारिकों में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र तथा अग्निपुराण के बाद भामह ही का नाम पहिले पहिल मिलता है। यद्यपि भामह के पहिले के अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है पर अब उनकी रचनाएँ अप्राप्य हैं। इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि भामह के पहिले भी अलंकारों पर विवेचना की गई थी।

सबसे प्रथम नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों का तथा अग्निपुराण में

सोलह अलंकारों का उल्लेख किया गया है और उस समय तक इतने ही अलंकारों का अन्वेषण तथा विवेचन हो पाया था। इसके अनंतर छ सात शताब्दि बाद के भामह ने ३८ अलंकारों के नाम आदि दिए हैं और जिस प्रकार इन्होंने अनेक पहिले के आचार्यों का उल्लेख किया है, उससे स्पष्ट है कि बीच में भी यह क्रम-विकास होता रहा है। इसके अनंतर दंडी, उद्भट तथा वामन के समय तक अलंकारों की संख्या बावन तक पहुँची और रुद्रट, भोज, मम्मट तथा रुय्यक तक यह संख्या एक दम दूनी एक सौ तीन हो गई। इसके बाद पंडितराज जगन्नाथ के समय तक यह संख्या १६१ तक पहुँच गई पर इनमें बहुत से ऐसे अलंकार भी आ गए हैं, जिनमें कुछ अन्य अलंकारों के अंतर्गत आ जाते हैं और कुछ में विशेष चमत्कार नहीं है। यही कारण है कि कितने को अन्य आलंकारिकों ने स्वीकार तक नहीं किया और वे उन्हीं लेखकों की रचनाओं में बंद रह गए।

वर्गीकरण

अलंकारों की संख्या इस प्रकार बढ़ जाने पर उनके अंतर्सिद्धांतों या मूल-तत्वों को लेकर उन्हें श्रेणीबद्ध करने का विशेष प्रयास नहीं हुआ है पर वह नितांत आवश्यक है। ऐसे मूल-तत्व अलंकारों की वर्णनशैली ही में निहित हैं, जिनके आधार पर सजातीय अर्थात् एक ही प्रकार की वर्णनशैली द्वारा प्रस्फुटित अलंकारों की एक-एक श्रेणी या समूह अलग किए जा सकते हैं, जिससे अलंकारों के विवेचन तथा मनन में विशेष सहायता पहुँच सकती है। इस कार्य की ओर पहिले पहिल रुद्रट ने दृष्टि डाली और वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष चार अंतर्सिद्धांतों पर चार श्रेणियाँ अलंकारों की बनाईं पर वे विशेष उपयोगी नहीं सिद्ध हुईं। इसके अनंतर रुय्यक ने अपने अलंकार-सर्वस्व में जो वर्गीकरण किया है वह विशेष उपयोगी हुआ है और साहित्य-दर्पणकार ने भी प्रायः इसीको माना है॥

रुय्यक ने सादृश्य या उपमा गर्भ (भेदाभेद तुल्य प्रधान, अभेद प्रधान, आरोप-मूल, अध्यवसाय मूल) गम्यमान औपम्य (पदार्थगत, वाक्यार्थगत, भेदप्रधान, विशेषण-वैचित्र्य, विशेषण-विशेष्य-वैचित्र्य), विरोधमूल, शृंखलाबंधमूल, न्यायमूल, काव्य न्यायमूल, लोकन्याय मूल गूढ़ार्थ-प्रतीति आठ मूलतत्व मानकर श्रेणियाँ बनाई हैं। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में कुछ हेरफेर कर इसीको माना है।

अलंकारों में, जैसा लिखा जा चुका है, उक्ति-वैचित्र्य ही में विभिन्नता रहती है और उसके अनुसार ही श्रेणियाँ बनाई जा सकती है। बहुत से अलंकारों में समता या सादृश्य ही को लेकर वर्णन किया जाता है, जैसे उसका मुख चंद्र के समान है, मुख मानों चंद्र ही है, चंद्र मुख की समता क्या करेगा आदि। इसी प्रकार कुछ अलंकारों में विरोध ही के आधार पर उक्ति-वैचित्र्य पाई जाती है। इसी प्रकार और भी मूल-तत्व हैं। सादृश्य के अंतर्गत बहुत से अलंकार आ जाते हैं और उनके भी उपभेद करने में बहुत कुछ सुविधा हो जाती है। इस ग्रंथ में नीचे लिखा वर्गीकरण किया जाता है, जो विशेष सुगम ज्ञात होता है।

१. साम्यमूल या सादृश्यगर्भ—जब दो पदार्थों—उपमेय (वर्ण्य) तथा उपमान (अवर्ण्य)—में समता का भाव दृष्टि में रखते हुए वर्णन-शैली में चमत्कार पैदा किया जाता है तब वह साम्यमूल कहा जाता है। इसीको सादृश्य-मूल या गर्भ, साधर्म्यमूल या औपम्यगत भी कहते हैं पर अंतिम नामकरण कुछ संकीर्ण हो जाता है। इसके अंतर्गत प्रायः आधे अलंकार आ जाते हैं इसलिए इस विभाग के कुछ उपभेद भी करना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं—

क. भेदाभेद प्रधान—जब उपमान तथा उपमेय में सादृश्य पूर्ण रूप से हो पर यह प्रकट किया जाय कि वे दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। इसके

अंतर्गत उपमा, मालोपमा, रसनोपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, प्रौढ़ोक्ति तथा स्मरण आठ अलंकार हैं।

ख. अभेद-प्रधान—जब दो समान पदार्थों में अर्थात् उपमान तथा उपमेय में किसी प्रकार का भेद अर्थात् कमीबेशी न हो और वे एक से वर्णित हों तब उनके साधर्म्य में अभेद कहा जायगा। इसके अंतर्गत नौ अलंकार आते हैं, जिनमें सात में उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है अतः इनमें आरोपमूल अभेद साम्य होता है। ये सात रूपक, परिणाम, उल्लेख, भ्रांति, संदेह, निश्चय तथा अपह्नुति अलंकार हैं। उत्प्रेक्षा में अनिश्चित रूप से तथा अतिशयोक्ति में निश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय किया जाता है अतः इनमें अध्यवसाय मूल अभेद साम्य होता है। समानता की प्रतीति मात्र होने से इन्हें (अभेद-साम्य) प्रतीति-प्रधान भी कहा जाता है।

ग. भेद प्रधान—जब वर्ण्य तथा अवर्ण्य दोनों में सादृश्य छिपे हुए रूप से अर्थात् अर्थ द्वारा ध्वनित हो और दोनों की विभिन्नता या अपेक्षता भी प्रगट हो। इसमें प्रतीप, तुल्ययोगिता, दीपक (दीपकावृत्ति), प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, उदाहरण, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकार आते हैं।

घ. गम्य प्रधान—इसमें कुछ समान बातें गम्य (छिपे हुए) रूप से ध्वनित होती हैं। इस उपभेद के अंतर्गत अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थांतरन्यास, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिंदा तथा आक्षेप हैं।

ङ. अर्थ-वैचित्र्य प्रधान—समानता का भाव ध्वनित करते हुए शब्द या वाक्य के अर्थ में कुछ विचित्रता हो। इसमें समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर तथा श्लेष आते हैं।

साम्यमूल या सादृश्यगर्भ

अभेद प्र०	भेद प्र०	भेदाभेद प्र०	गम्य प्र०	अर्थ-वैचित्र्य प्र०

२. विरोधमूल—जिन अलंकारों की वर्णन शैली में दो पदार्थों में या कार्य-कारण के आगे पीछे होने से परस्पर विरोध का भाव प्रकट हो तो उनका अंतर्सिद्धांत विरोधमूलक कहलाएगा। इसके अंतर्गत विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, विषम, सम, असंगति, असंभव, विचित्र, व्याघात, अधिक, विशेष, अन्योन्य तथा अल्प आते हैं।

३. शृङ्खलामूल—जिन अलंकारों में दो या उससे अधिक वस्तुओं का क्रम से शृंखला के समान संबंधित वर्णन हो उनका यह मूलतत्व हुआ। इसके अंतर्गत कारणमाला, एकावली, मालादीपक तथा सार (उदार) अलंकार आते हैं।

४. न्यायमूल—जिन अलंकारों से तर्क, लोक-प्रमाण या दृष्टांतादि युक्त वाक्यों द्वारा चमत्कार या रोचकता उत्पन्न किया जाय। इस भेद के अंतर्गत भी बहुत से अलंकार आ जाते हैं अतः इसके भी तीन उपभेद आवश्यक हैं।

क. वाक्य-न्यायमूल—जब वाक्यों में शब्दों के विशेष क्रम से अथवा दो वाक्यों को विशेष संबंध से सम्मिलित कर रोचकता या चमत्कार उत्पन्न किया जाय। इसके अंतर्गत यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुचय, समाधि, प्रत्यनीक आदि हैं।

ख. तर्क-न्यायमूल—जिन अलंकारों द्वारा कारण आदि देकर तर्क से रोचकता लाई जाय। इस उपभेद में काव्यलिंग, हेतु, तिरस्कार आदि आते हैं।

ग. लोक-न्यायमूल—जिनमें लोक प्रचलित प्रमाणादि के प्रयोग से

चमत्कार उत्पन्न हो। इसके अंतर्गत तद्गुण, अतद्गुण, अनुगुण, सामान्य, मीलित, उन्मीलित, उत्तर आदि हैं।

घ. गूढार्थ-प्रतीतिमूल—जिनमें एक अर्थ के साथ अन्य गूढ़ अर्थ की भी प्रतीति होने से अलंकरण हो। इसके अंतर्गत मुद्रा, रत्नावली, सूक्ष्म आदि अलंकार आते हैं।

५. वर्णन-वैचित्र्य प्रधान—जिनमें केवल वर्णन ही की विचित्रता द्वारा चमत्कार पैदा किया जाय। इसके अंतर्गत स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त आदि अलंकार हैं।

अलंकार क्या है ?

अलंकार का साधारण अर्थ गहना है और जिस प्रकार गहने स्त्रियों के शारीरिक सौंदर्य की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार साहित्य-संबंधी अलंकार काव्यरचना की शोभा अर्थात् चमत्कार या रमणीयता का उत्कर्ष करते हैं। कविगण काव्यरचना को जब कविता-कामिनी कहने लगे तभी शब्द तथा अर्थ को लेकर जिस उक्ति-वैचित्र्य या वर्णन-शैली की विचित्रता द्वारा कविता में विशेष चमत्कार, रोचकता या रमणीयता लाई जाती थी उसे भी उक्त रूपक को कुछ आगे बढ़ाकर अलंकार कहने लगे। साथ ही वे उसी रूपक के अनुसार कविता-कामिनी की आत्मा, शरीर आदि का भी निश्चय करने लगे। जिस प्रकार एक कामिनी को शरीर, आत्मा, सौंदर्य, चांचल्य आदि आकर्षक गुण प्रकृत्या प्राप्त होते हैं और उसके अनंतर वस्त्र, अलंकार आदि कृत्रिम साधन उसकी शोभा को बढ़ाते हैं उसी प्रकार कविता-कामिनी को भी इन सबकी आवश्यकता पड़ती है। 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' बतलाता है कि जब कविता का शरीर वाक्य या वाक्यों का समूह है तब रस उसकी आत्मा है। रस ही उसकी आत्मा है या और कुछ, इसका तर्क वितर्क न कर यदि इस रूपक को आगे बढ़ावें तो कह सकते

हैं कि गुण उसका सौंदर्य है तथा हाव-भावादि स्वभावतः दोनों ही में समान हैं। इन सब नैसर्गिक साधनों के रहते भी जैसे सुंदर वस्त्र तथा आभूषण की एक ओर अपेक्षा होती है उसी प्रकार दूसरी ओर ध्वनि तथा अलंकार भी अपेक्षित होते हैं। कोई भी वाक्य जिसमें रति, उत्साहादि भावों की स्थिति के कारण रस का परिपाक हो गया है और माधुर्य आदि गुणों से युक्त है वह काव्यत्व को प्राप्त हो जाता है पर यदि उसका उक्ति-वैचित्र्य द्वारा और भी अलंकरण किया जाता है तो वह विशेष हृदयग्राही हो उठता है। यह अलंकरण शब्द-रचना तथा अर्थ-वैचित्र्य दोनों प्रकार से किया जाता है अतः अलंकार दो प्रकार के हो जाते हैं।

उक्त विवेचन से ऐसा ज्ञात होता है कि जिस प्रकार स्त्री का शारीरिक सौंदर्य, सजीवता, चांचल्य, हाव भावादि नैसर्गिक हैं पर वस्त्राभूषण, अंजन आदि कृत्रिम शोभावर्द्धक साधन हैं उसी प्रकार कविता में अलंकार भी वह वाह्य साधन है, जो उसकी रोचकता या रमणीयता को बढ़ाता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि नैसर्गिक सौंदर्य के लिए अलंकार की नितांत आवश्यकता नहीं है और अलंकार रहित होने पर भी उसकी निजी सत्ता है। परंतु अलंकार संप्रदाय के आचार्यगण अलंकारों ही को कविता में सब कुछ समझते थे। इन लोगों ने रस, स्थायी भाव, गुण आदि को जानते तथा कविता में इनकी आवश्यकता मानते हुए भी अलंकारों को इतनी प्रधानता दी है कि रस, गुण आदि को भी अलंकारवत् मान लिया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इस मानने में कुछ तथ्य है क्योंकि अलंकार सौंदर्य ही की शोभा बढ़ाते हैं पर कुरूपता को और भी स्पष्ट कर उसे गिरा देते हैं अतः अलंकार तथा सौंदर्य सापेक्ष हैं। जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी है और सौंदर्य स्वभावतः प्राप्त होने से उसके उपयुक्त अलंकार चुनकर उसे सजाने ही में विशेष निपुणता की आवश्यकता पड़ती है इसलिए यदि इसे ही विशेष प्रधा-

नता दी गई है तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं रह जाती।
एक उदाहरण लीजिए—

'धतूरे से सोने में बहुत अधिक मादकता है'

इसी भाव को, जो स्वतः सरस है, कवि इस प्रकार सजाकर कहता है—

कनक कनक ते चौगुनी मादकता अधिकाय ।
वह पाए बौरात है वह खाए बौराय ॥

भाव वही है और उसी प्रकार प्रगट किया गया है पर अलंकारों के समावेश से उसकी शोभा बहुत बढ़ गई है। द्वयर्थक शब्द 'कनक' के दो बार प्रयोग से अनुप्रास की छटा आ जाती है, पहिले कनक का अर्थ सोना तथा दूसरे का धतूरा है और उसी क्रम से पाने तथा खाने से मत्त होने का उल्लेख करने से क्रमालंकार आ गया है। इसके साथ अपूर्ण कारण से कार्य का होना अर्थात् नशे की वस्तु पाने मात्र से नशे में हो जाना, दिखलाने से विभावना अलंकार का समावेश हो गया। इस प्रकार उसी बात की वर्णनशैली में वैचित्र्य लाकर कविता की शोभा बढ़ा दी गई है।

कविता में शब्द तथा अर्थ द्वारा निर्मित जिस वर्णनशैली की विशेषता या उक्ति-वैचित्र्य से अधिक रोचकता या रमणीयता उत्पन्न कर दी जाती है उसे ही अलंकार कहा जाता है। केवल शब्द-रचना के वैचित्र्य से जो अलंकरण होता है उसे शब्दालंकार और जो अर्थ-वैचित्र्य से होता है उसे अर्थालंकार कहते हैं। कहीं कहीं दोनों का मेल भी होता है, जिसे शंकर या संसृष्टि कहते हैं।

अलंकार-रत्न

अर्थालंकार

१. साम्यमूलक, भेदाभेद प्रधान (क)

१. उपमा

अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकार ही अधिक महत्व के हैं तथा उनमें उपमा ही प्रधान है। अलंकार-सर्वस्व में कहा ही गया है कि—

अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसंपदम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

उपमा शब्द की व्युत्पत्ति उप=समान+मा=तौलना, नापना है अर्थात् समान बतलाना। जब एक ही वाक्य में दो भिन्न वस्तुओं (वर्ण्य या उपमेय तथा अवर्ण्य या उपमान) में समान धर्म बतलाते हुए तथा किसी प्रकार की विभिन्नता न प्रकट करते हुए सादृश्य दिखलाया जाय तब उसे उपमा अलंकार कहते हैं। इसके चार अंग होते हैं—

उपमेय—वह वर्णनीय वस्तु जिसकी दूसरी वस्तु से समानता दिखलाई जाय अर्थात् जो वर्णन का विषय या वर्ण्य है।

उपमान—वह वस्तु जिससे वर्णनीय वस्तु की समानता दिखलाई जाय। वर्ण्य अर्थात् जो वर्णन का विषय हो उसके समान जो दूसरी वस्तु कही जाय। इसे अवर्ण्य भी कहते हैं। उपमेय प्रधान है और उपमान उपमेय के उत्कर्ष को प्रकट करता है।

वाचक—समानता प्रकट करनेवाले शब्द, जैसे, सा, समान आदि।

धर्म—उपमेय तथा उपमान में जो समान गुण दिखलाया जाय और जिस गुण के कारण दोनों समान कहे जायँ।

जैसे उसका मुख चंद्रमा के समान कांतिमान है। इसमें मुख उपमेय, चंद्रमा उपमान, समान वाचक तथा कांतिमान धर्म है। जिनमें ये चारों वर्तमान हों उसे पूर्णोपमा कहते हैं और जब इनमें से एक या दो या तीन लुप्त हों तब उसे लुप्तोपमा कहते हैं।

उपमा की जो ऊपर परिभाषा दी गई है उसके एक एक शब्द सार्थक तथा साभिप्राय हैं। जैसे 'एक ही वाक्य में' यदि साहश्य है तभी उपमा है और यदि साहश्य दो वाक्यों में दिखलाया जाय जैसे, मुख चंद्र के समान सुंदर है और चंद्र मुख के समान सुंदर है तब दोनों में उपमा रहते हुए भी वह उपमा न कहलाकर उपमेयोपमा कहलाएगा। 'दो भिन्न वस्तुओं' का होना भी उपमा में आवश्यक है और यदि एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान हो तब उस हालत में वह अनन्वय अलंकार हो जायगा। जैसे उसका मुख उसके मुख ही सा है। साहश्य होते भी दो वस्तु के न होने से उपमा नहीं है। समान धर्म प्रकट करनेवाले शब्दों के न होने से उपमा न होकर रूपक अलंकार हो जायगा। जैसे उसका मुख ही चंद्र है। इसमें मुख में चंद्र के साहश्य का भाव ध्वनित (कल्पित) है पर उपमा में वाचक शब्द उसे स्पष्ट बतला देता है। 'किसी प्रकार की विभिन्नता न प्रकट करते हुए' तक उपमा ही रहेगा पर यदि विभिन्नता भी प्रकट की जाय तब वह उपमा न रहकर व्यतिरेक अलंकार हो जायगा। उस अवस्था में साहश्य प्रगट करते हुए भी विरोध का भाव आ जाता है जैसे उसका निष्कलंक मुख सकलंक चंद्र सा नहीं हो सकता।

चारों अंगों के वर्तमान रहने पर उपमा पूर्णोपमा कहलाती है और इसके भी दो भेद शास्त्रकारों ने औपम्य-वाचक शब्दों के प्रयोग के

अनुसार किए हैं—श्रौती तथा आर्थी। जहाँ ऐसे वाचक शब्दों का प्रयोग हो कि जिनके सुनने ही से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि दोनों वस्तु उपमेय तथा उपमान किसी सामान्य धर्म के कारण सदृश हैं तब वह श्रौती उपमा होगी। जैसे मुख कमल सा है। इसमें सा का प्रयोग ही स्पष्ट बतला देता है कि मुख तथा कमल में किसी साधर्म्य के कारण उपमेय तथा उपमान का संबंध है। परंतु जब तुल्य, बराबर आदि ऐसे वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, जिससे एक वस्तु दूसरे के केवल समान कही जाती है पर उससे तुरंत सादृश्य का भाव उत्पन्न नहीं होता और जब समान धर्म पर विचार कर उसकी उपमिति समझी जाती है तब वह आर्थी उपमा होती है। जैसे मुख चंद्रमा के (तुल्य) बराबर है, इसमें इतनी ही ध्वनि निकलती है कि किसी कारणवश ये दोनों बराबर हैं पर सादृश्य या साम्य का भाव तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक उक्त कारण साधर्म्य स्थापित कर दोनों में औपम्य भाव उद्बुद्ध नहीं करता। आर्थी के तीन उपभेद और किए गए हैं—तद्धितगा, समासगा तथा वाक्यगा। पर ये भेद गौण हैं और संस्कृत-कविता ही में विशेष रूप से स्पष्ट ज्ञात होते हैं।

लुप्तोपमा वह उपमा है जिसमें उसके चार अंगों में से कोई एक, दो वा तीन न दिए गए हों। इस प्रकार एक एक के लोप से अर्थात् एकलोपोपमा के चार भेद हुए—

१. वाचक लुप्तोपमा या वाचकलुप्ता
२. धर्म लुप्तोपमा या धर्मलुप्ता
३. उपमान लुप्तोपमा या उपमानलुप्ता
४. उपमेय लुप्तोपमा या उपमेयलुप्ता

इनके सिवा दो के लोप से अर्थात् द्विलोपोपमा के छ भेद होते हैं—

१. वाचक-धर्म-लुप्तोपमा या लुप्ता
२. वाचक-उपमेय लुप्तोपमा या लुप्ता

३. वाचक-उपमान लुप्तोपमा या लुप्ता
४. धर्म-उपमेय लुप्तोपमा या लुप्ता
५. धर्म-उपमान लुप्तोपमा या लुप्ता
६. उपमान-उपमेय लुप्तोपमा या लुप्ता

तीन अंगों के लोप से केवल एक भेद होता है क्योंकि उपमेय को छोड़कर किसी अन्य एक अंग के रहने से यह अलंकार नहीं हो सकता। यह अलंकार धर्म-उपमान-वाचक लुप्ता कहलायगा।

१. वाचक लुप्तोपमा—इसमें उपमा के तीन अंग उपमेय, उपमान तथा धर्म रहते हैं पर वाचक नहीं रहता। जैसे, उसका चंद्रमुख शोभा-यमान है। इसमें वाचक सा, समान आदि नहीं है। यह साधर्म्य ही सादृश्य प्रकट करता है और उसी से वाचक का लोप माना जाता है।

२. धर्म लुप्तोपमा—इसमें उपमा के चार अंगों में से एक धर्म का लोप होता है। जैसे, रामचंद्र अमृत के समान वचन बोले। यहाँ उपमेय वचन, उपमान अमृत तथा 'के समान' वाचक तीन अंग हैं पर साधर्म्य प्रकट करनेवाला शब्द नहीं है।

३. उपमान लुप्तोपमा—इसमें उपमा के एक अंग उपमान का एक प्रकार से लोप होता है अर्थात् स्पष्ट नहीं कहा जाता। जैसे, उसकी कटि केहरि सी क्षीण है। इसमें 'सिंह की कटि' उपमान है पर केहरि मात्र कहा गया है, इसलिए उपमान का लोप माना जाता है।

यह आर्थी उपमा है क्योंकि उपमान के अभाव में श्रौती उपमा हो नहीं सकती। वास्तव में उपमान के अभाव में सादृश्य या उपमिति का भाव रह नहीं सकता। यदि उपमान का निषेध किया जाय कि उपमेय के समान कोई उपमान नहीं है तो वह उपमा ही कैसे रह जायगी प्रत्युत् असम अलंकार हो जायगा। यही कारण है कि उपमान का लोप इस प्रकार किया जाता है कि उसका कोई अंश उसका होना स्पष्ट करता रहे। एक और उदाहरण लीजिए। श्रीहरि के नेत्र मृग से विशाल हैं।

नेत्र उपमेय, से वाचक तथा विशाल धर्म है और 'मृग का नेत्र' उपमान है पर कहा केवल मृग गया है अतः उपमान का लोप होते भी मृग शब्द के रहने से उपमा का भाव बना है तथा वाक्य भी सार्थक है। यदि मृग शब्द का भी अभाव होता तो वाक्य ही निरर्थक हो जाता फिर उपमा कहाँ रह जाती।

४. उपमेय-लुप्तोपमा—इसमें अन्य तीन अंगों के रहते हुए उपमेय का इस प्रकार लोप होता है कि वह स्पष्टतः वाक्य में नहीं रहता। जैसे, जिसे देखकर सभी मुग्ध हो जाते हैं, वह चंद्र सा शोभायमान है।

[यहाँ उपमेय स्पष्टतः कहा नहीं गया है पर उसके लिए प्रशंसा-वाक्य रखकर उसकी पूर्ति कर दी गई है।]

५. वाचक-धर्म लुप्तोपमा—जहाँ केवल उपमान तथा उपमेय ही हों पर सादृश्य या उपमिति का भाव रहे। जैसे, मुख चंद्रमा है। यहाँ उपमेय मुख और चंद्रमा उपमान है। वाचक, शब्द तथा साधारण धर्म का लोप है।

वाचक-धर्म-लुप्ता तथा सम-अभेद रूपक के उदाहरणों में समानता की प्रतीति होती है पर जहाँ प्रसंग से उपमेय के धर्म की प्रधानता मालूम हो वहीं उपमा होगी। यदि उपमान के धर्म की प्रधानता प्रकट हो तब उपमा न होकर रूपक हो जायगा। जैसे,

कमल बदन नँदलाल को अलि अलि मेरे नैन।
अनुरागे लागे रहैं सदा रूप रस लैन॥
(कर्णाभरण)

इसमें 'मुख बदन' में उपमा तथा रूपक दोनों हो सकता है। मुख उपमेय तथा कमल उपमान है। मुख कमल सा है या मुख रूपी कमल दोनों भाव हैं पर समग्र दोहे का तात्पर्य लेने से प्रधानता उपमेय की है क्योंकि नेत्र मुख के रूप ही का रस लेने को भ्रमर बने हैं

और इसी लिए उसका सादृश्य कमल से दिया गया है अतः यहाँ उपमा ही है।

६. वाचक-उपमान लुप्ता—जहाँ केवल उपमेय तथा सदृश धर्म ही हों वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे, 'मृग विशाल नैननि लखे' में उपमेय नेत्र तथा विशाल धर्म है पर मृग शब्द के रहते हुए भी उपमान का लोप माना जायगा क्योंकि वास्तव में मृग के नेत्र उपमान हैं न कि मृग। उपमान का एक दम निषेध हो नहीं सकता क्योंकि तब उपमा अलंकार ही नहीं रह जायगा।

७. धर्म-उपमेय लुप्ता—जहाँ केवल उपमान तथा वाचक दो ही हों वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे,

मुरली सुंदर श्याम की बजी सरस रस भोइ।
ताकी धुनि स्रवननि सुनत रही मृगी सी सोइ॥

यहाँ 'मृगी सी' मात्र में यह अलंकार इसी कारण है कि मुरली की धुनि सुनते ही वह 'मृगी सी' हो गई अर्थात् ठगी सी रह गई। यदि पद का प्रसंग भाव स्पष्ट न करे तो केवल 'मृगी सी' कहने से कुछ तात्पर्य ही न निकलेगा तब अलंकार कहाँ रह जायगा।

८. धर्म-उपमान लुप्ता—जहाँ केवल उपमेय तथा वाचक रहे वहाँ यह अलंकार होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि वाचक उपमान के साथ ही रहता है और तभी वह सार्थक हो सकता है अतः प्रसंग से उसकी उपस्थिति ज्ञात रहनी चाहिए। जैसे कहा जाय कि 'केशव सा खोजने पर न मिलेगा'। यहाँ तात्पर्य यह है कि केशव बृहस्पति सा विद्वान है और तुम कितना भी खोजो केशव सा कोई न मिलेगा। जहाँ प्रसंग से यह भाव स्पष्ट रहे वहीं यह अलंकार होगा। ऐसा भी होता है कि उपमान के किसी अंश के कह देने पर भी उसका लोप माना जाता है और उस अंश के रहने से यह अलंकार स्पष्ट मालूम होता है। जैसे, 'केहरि सी कटि वीर की' में वीर की कटि उपमेय तथा सी वाचक है पर

केहरि उपमान नहीं है उसकी कटि उपमान है अतः उपमान का लोप है।

९- उपमानोपमेय लुप्ता—जिसमें केवल धर्म तथा वाचक दो ही हों। इन्हीं दो के रहने पर केवल प्रसंग से उपमा अलंकार स्पष्ट होता है। जैसे वह हाथी सा मत्त झूमता आ रहा है, इसमें चारों अंग वर्तमान हैं और यह पूर्णोपमा है पर इसे उपमानोपमेय लुप्ता इस प्रकार बना सकते हैं जिससे उपमा का भाव स्पष्ट ज्ञात हो।

आए झूमत झुकत से चित्रित बने बिसाल।
मतवारे से रहन कों चहियत ठौर रसाल॥

१०. वाचक-उपमेय लुप्ता—जहाँ केवल उपमान तथा धर्म रहें। मुख चंद्र सा कांतिमान है, इसमें पूर्णोपमा है। पर यदि कहा जाय कि 'कांति से चंद्र ज्ञात होता है' तो इसमें कांति धर्म तथा चंद्र उपमान है और वाचक सा तथा मुख उपमेय का लोप है। ऐसे अलंकार संस्कृत में प्रत्यय क्यच् आदि से विशेष स्पष्ट होते हैं।

११. त्रिलोपोपमा या धर्मोपमान-वाचक लुप्ता—इसमें केवल उपमेय रहता है पर उपमान के अंश रूप में रहने ही पर यह अलंकार होता है। जैसे, वृषभ-स्कंध, मृगनैनी आदि में यह अलंकार है। इनका भाव है कि वृषभ के स्कंध सा जिसका स्कंध है और मृग के नेत्रों से जिसके नेत्र हैं पर केवल वृषभ तथा मृग के उल्लेख हैं जो स्वतः उपमान नहीं हैं अतः उपमान का लोप माना गया है। ध्यान रखना चाहिए कि विधुवदनी में यह अलंकार नहीं है क्योंकि विधु स्वतः उपमान है, उसका अंश नहीं है। यह अलंकार इस प्रकार भी आता है, जैसे—

रही मौन ह्वै कै कहा बैठी भौंह चढ़ाय।
श्रवननि कों सुख दै प्रिये कोकिल बचन सुनाय॥

यहाँ उपमेय प्रिया है और अन्य तीनों अंगों का लोप है तथा 'कोकिल-वचन सुनाय' कहकर ही यह अलंकार प्रस्फुटित कर दिया गया

है कि प्रिया की वाणी कोकिल की वाणी के समान मधुर है तभी वह कोकिल सा वचन सुना सकती है।

२. मालोपमा

जहाँ एक ही उपमेय का अनेक उपमानों से सादृश्य दिखलाया जाय अर्थात् उपमानों की माला सी पिरो दी जाय तब उसे मालोपमा कहते हैं। इसके दो भेद किए गए हैं। जहाँ सादृश्य प्रकट करनेवाला धर्म एक ही हो या जहाँ अनेक हों।

अ. एकधर्म मालोपमा—जिस प्रकार कमल से जलाशय, चंद्रमा से रात्रि और यौवन से स्त्री मनोहर होती है उसी प्रकार नम्रता से राज्यश्री होती है।

यहाँ साधर्म्य एक मनोहरता है, उपमेय राज्यश्री है और जलाशय, रात्रि तथा स्त्री उपमान हैं। राज्यश्री जलाशय, रात्रि तथा स्त्री के समान मनोहर है, यह मालोपमा अलंकार है। मनोहरता एक धर्म है पर प्रत्येक उपमान के मनोहर होने का कारण अलग अलग दे दिया गया है।

आ. अनेक धर्म या भिन्न धर्म मालोपमा—उसके नेत्र मीन से चंचल, मृग-नेत्र से विशाल तथा कमल से सुंदर हैं।

यहाँ नेत्र उपमेय एक है, मीन, मृगनेत्र तथा कमल तीन उपमान हैं और चंचलता, विशालता तथा सुंदरता तीन धर्म हैं अर्थात् सभी उपमान भिन्न धर्मों से सादृश्य प्रकट कर रहे हैं।

मालोपमा के जो दो भेद ऊपर कहे गए हैं वे निरवयवा हैं अर्थात् उपमेय के अनेक अवयवों पर अलग अलग उपमाएँ नहीं दी गई हैं पर जहाँ ऐसा किया जाता है वहाँ सावयवा मालोपमा होती है। जैसे उसका मुख कमल सा निर्मल है, नेत्र कमल-पत्र से नुकीले हैं, भुजा कमलनाल सी मृदुल है और वह सरोवर सी शोभायमान है। यहाँ नायिका की सरोवर से और उसके अवयवों की सरोवर के अवयवों से उपमा दी गई है।

३. रशनोपमा

(रशना+उपमा) रशना का अर्थ कमरपेटी है। जब कई उपमाएँ एक शृंखला में साथ कही जायँ और प्रथम का उपमेय दूसरे में क्रमशः उपमान होता जाय तब यह अलंकार होता है। अर्थात् पहिली उपमा में जिस उपमेय का अन्य से सादृश्य दिखलाया गया है वह दूसरी उपमा में उपमान होकर नए उपमेय की समानता प्रगट करे और फिर यह नया उपमेय तीसरी उपमा में उपमान बनकर एक और नए उपमेय को उपमित करे। यही क्रम, यदि और उपमाएँ भी हों तो चलती रहे। जैसे; चंद्रमा श्वेतता में दर्पण के समान है, मुख कांति में चंद्रमा सा है और कमल कोमलता में मुख के ऐसा है।

यहाँ पहिली उपमा का उपमेय चंद्रमा दूसरी उपमा में उपमान हो गया है और दूसरी उपमा का उपमेय मुख तीसरी में उपमान हो गया है।*

उदाहरण—पियभिलाष सी बयस तिय बयस समान सरूप।
रूप समान लवन्यता तो सी तुहीं अनूप॥

[सूचना—उपमा के बहुत से भेद किए गए हैं। उपमेय तथा उपमान एक होते सादृश्य अनेक धर्मों द्वारा दिखलाया जाय तो समुच्चयोपमा होती है। जहाँ श्लेष-युक्त हो तो श्लेषोपमा होती है। इसी प्रकार आक्षेपोपमा, लक्ष्योपमा आदि अनेक भेद वर्णन-वैचित्र्य द्वारा किए गए हैं पर उन सबका लक्षण तथा उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

---

* जहाँ प्रथम उपमा का उपमान दूसरे में उपमेय हो जाय और यही क्रम आगे भी हो तो वह भी रशनोपमा का एक भेद है। जैसे, दर्पण चंद्र सा शुभ्र है, चंद्र मुख सा कांतिमान है और मुख कमल सा कोमल है।

४. अनन्वय

जब एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान दोनों रूप में प्रयुक्त हो अर्थात् वह वस्तु अपने आप ही के समान कही जाय। इससे यह तात्पर्य स्पष्ट है कि उसके समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है। उपमा में एक वस्तु दूसरी वस्तु के समान बतलाई जाती है और उसमें यह भाव नहीं रहता कि वैसी वस्तु संसार में दूसरी नहीं है। जैसे कहा जाय कि आकाश आकाश ही के समान है, तो इससे यह ध्वनि स्पष्ट है कि संसार में आकाश के समान ऐसी कोई दूसरी वस्तु नहीं है, जिससे उसकी उपमा दी जा सके अतः इसमें अनन्वय अलंकार प्रस्फुटित हुआ है। अनन्वय का अर्थ अन्वय का न होना, असंबद्ध होना अर्थात् उपमेय तथा उपमान में पारस्परिक संबंध का न होना है।

इस अलंकार में प्रायः वही शब्द दुहराकर लाया जाता है पर यह नितांत आवश्यक नहीं है। वैसा केवल इसीलिए किया जाता है कि यह भाव कि उसके समान वही है, अन्य नहीं, तुरंत श्रोता के हृदय में भी उदित हो जाय। इसमें आवश्यकता इतनी ही है कि उपमेय तथा उपमानवाची दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हों अर्थात् अर्थ ही की पुनरुक्ति हो। जैसे उपर्युक्त उदाहरण यों कहा जाय कि आकाश गगन ही के समान है तो भी अनन्वय अलंकार ही है क्योंकि गगन आकाश ही का पर्याय है। इसके विपरीत लाटानुप्रास में शब्द तथा अर्थ दोनों की पुनरुक्ति होते हुए भी अन्वय से दूसरा भाव प्रगट किया जाता है।

उदा०—श्रीअँग सी सौरभ सखी है श्रीअंगहि माहिं।

यहाँ श्रीअंग की सौरभ श्रीअंग के सौरभ ही सी है अर्थात् किसी अन्य वस्तु की सौरभ उसके समान नहीं है।

५. उपमेयोपमा

जहाँ दो उपमाएँ दो वाक्यों में कही जायँ और एक का उपमेय दूसरे

में उपमान तथा पहिले का उपमान दूसरे में उपमेय हो तब उपमेयोपमा अलंकार होता है। इसमें यह भाव रहता है कि उपमेय अर्थात् वर्ण्य वस्तु के समान केवल एक ही वस्तु है और कोई अन्य नहीं है। जैसे उसका मुख चंद्र के समान है और चंद्र उसके मुख के समान है। अर्थात् उसके मुख का सादृश्य केवल एक ही अन्य वस्तु चंद्र से दिखलाया जा सकता है और इन दो के सिवा कोई अन्य वस्तु इनके समकक्ष नहीं है, जिससे उपमा दी जा सके।

अनन्वय में एक ही वस्तु अद्वितीय मानी जाती है पर इसमें दो वस्तु समान माने जाते हैं, तीसरा नहीं। रशनोपमा में पहिली उपमा का उपमेय दूसरी उपमा में उपमान हो जाता है पर उसमें वे ही दो वस्तु नहीं रह जातीं, एक और क्रमशः बढ़ती जाती है। उपमा में केवल एक ही वाक्य में दो वस्तु की सदृशता दिखलाई जाती है और उसमें यह भाव नहीं आता कि इन दो के समान और कोई वस्तु नहीं है पर उपमेयोपमा में दो वाक्यों के होते हुए भी उक्त भाव पूर्णरूपेण रहता है।

उदा०—रहत डहडही रैन दिन फूल फलनि को ठेलि।
तिय तुअ चंपकवेलि सी तो सी चंपकबेलि॥

६. असम अलंकार

जहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा जाय कि उपमेय के समान कोई (उपमान) नहीं है अर्थात् उपमान का सर्वथा अभाव हो वहाँ असम अलंकार होता है। असम का अर्थ है समता का अभाव, जिसके समान कोई न हो। अनन्वय अलंकार में भी उपमान का अभाव ही है पर उपमान के स्थान पर उपमेय का कथन होता है, असम में यह भी नहीं होता। जैसे, आप आप ही हैं या आपके समान कोई दूसरा नहीं है, इन दोनों का तात्पर्य एक ही है पर कथन का ढंग भिन्न है, इसीलिए दो अलंकार माने गए हैं। लुप्तोपमा में भी उपमान का पूर्ण अभाव नहीं कहा जाता। इसका विवेचन उपमा में किया गया है।

उदाहरण—

आरति-भंजन राम से और न दूसर कोइ ।

यहाँ राम उपमेय, से वाचक और आरति-भंजन धर्म है पर उपमान का सर्वथा निषेध है, स्पष्ट ही कहा गया है कि राम के समान कोई नहीं है ।

७. स्मरण अलंकार

किसी सदृश वस्तु का अनुभव होने से दूसरी वैसी वस्तु का स्मरण आ जावे तो वहाँ स्मरण अलंकार होता है । अनुभव ज्ञान का एक भेद कहा गया है । ज्ञान द्विविध है—अनुभव और स्मृति । जैसे घट को पहिले पहिल देखकर एक अनुभव हुआ कि ऐसी वस्तु को घट कहते हैं । यह अनुभव मस्तिष्क में स्थान बना लेता है जिसे संस्कार कहेंगे और जब कभी वैसी वस्तु सामने आती है तब यही संस्कार उसका स्मरण करा देती है। इस प्रकार क्रमशः अनुभव, संस्कार तथा स्मृति के रूपों में मस्तिष्क कार्य करता है । इसलिए जब सदृश वस्तु का अनुभव होता है तब संस्कार से वैसी ही दूसरी वस्तु का, जिसका पहिले अनुभव किया जा चुका है, स्मरण हो आता है और तभी स्मरण अलंकार होता है । अनुभव के अंतर्गत देखना, सुनना, याद आना, सोचना आदि सभी आ जाते हैं । अनुभव प्रत्यक्ष तथा स्वप्न आदि में भी होता है । इन सभी क्रियाओं से स्मरण हो सकता है, पर वैसा उसके सदृश वस्तु ही के अनुभव से हुआ है या उसे ही स्वप्न में देखकर । कभी कभी उसके संबंध की वस्तु के अनुभव से भी स्मरण हो जाता है । परंतु जब कभी एक सदृश वस्तु का स्मरणमात्र हो जाने से वैसी ही दूसरी वस्तु का भी स्मरण हो आता है तब उस अवस्था में अनुभव के अंतर्गत यह स्मरण नहीं आ सकता । साथ ही कभी कभी विरोधी वस्तु का ज्ञान होने से भी उसका स्मरण हो सकता है । तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु

के स्मरण हो आने के अनेक कारण हो सकते हैं पर उस अवस्था में सभी कारणों से उत्पन्न या उद्‌बुद्ध स्मरण क्या स्मरण अलंकार न कहलायगा ?

एक व्यभिचारी या संचारी भाव स्मृति कहलाता है, जिसकी परिभाषा यों की गई है कि—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत्।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते॥

भौंह चढ़ाने आदि द्वारा सदृश ज्ञान, चिंतन आदि से पहिले के अनुभूत विषय के ज्ञान का हो जाना स्मृति कहलाता है। इस स्मृति भाव तथा स्मरण अलंकार में भेद करते हुए प्राचीन शास्त्रकारों ने लिखा है कि जब तक सदृश वस्तु को देखकर या अनुभव कर दूसरी वैसी ही वस्तु का स्मरण हो तभी तक वह स्मरण अलंकार है और यदि किसी अन्य कारण से, चिंतन, उद्वेग आदि से, वैसा हो तो वह स्मरण अलंकार नहीं रह जाता प्रत्युत् स्मृति भाव रह जाता है। परंतु यह कथन युक्तियुक्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

स्थायी भावों के रहते हुए भी विशेष कारणों से उत्पन्न तथा विलीन होनेवाले अलसता, जड़ता, लज्जा, हर्ष, स्मृति आदि भाव ही व्यभिचारी या संचारी भाव कहलाते हैं, जो रसात्मक वाक्यों में विकसित होते हैं। जैसे यदि कहा जाय कि मैं उसके उस सलज्ज चंचल तथा आनंद-विस्फारित कटाक्षपूर्ण नेत्रों की याद किया करता हूँ, जिससे वह औरों की दृष्टि बचाकर मुझे देखा करती थी। इसमें केवल स्मृति भाव ही है, किसी प्रकार से स्मरण अलंकार का प्रस्फुटित होना नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह स्मृति किसी विशेष कारण से एकाएक उद्‌बुद्ध नहीं हुई है प्रत्युत् हृदयस्थ भाव को केवल प्रगट कर रही है। बिना कारण ही किसी का स्वतः स्मरण करना स्मृति भाव है।

अलंकार उक्ति-वैचित्र्य या वर्णन-शैली की विचित्रता द्वारा सरस

भावपूर्ण वाक्यों को विशेष अलंकृत करता है अर्थात् अलंकार का कार्य रस, भाव आदि से वाक्य के पुष्ट हो जाने पर पड़ता है। जैसे उक्त उदाहरण को इस प्रकार से कहा जाय—

इस नाटक की नायिका के ठीक वैसे ही भाव को देखकर मुझे उसके उस सलज्ज चंचल तथा आनंद-विस्फारित कटाक्षपूर्ण नेत्रों की बार बार याद आ रही है, जिनसे वह औरों की दृष्टि बचाकर मुझे देखा करती थी।

इस वाक्य में वक्ता का हृदयस्थ भाव अन्य स्त्री के वैसे ही आचरण को देखकर उद्वेलित हो एकाएक प्रकट हो रहा है अतः इसमें केवल स्मृति भाव न होकर स्मरण अलंकार हो गया। अर्थात् किसी वाक्य में केवल स्मृति भाव ही है या स्मरण अलंकार है, इसकी विवेचना केवल इतना ही कहने पर निर्भर नहीं है कि सदृश वस्तु के अनुभव होने से वैसी वस्तु का स्मरण हो जाय तो स्मरण अलंकार हो और किसी अन्य प्रकार से स्मरण हो तो वह स्मृति भावमात्र रह जाय। प्रत्युत् देखना होगा कि वास्तव में उस वाक्य में केवल स्मृति भावमात्र बिना किसी अलंकरण के आ गया है या कुछ उक्ति-वैचित्र्य द्वारा वह अलंकृत भी किया गया है और तब निश्चय करना चाहिए कि स्मरण अलंकार है या नहीं। स्मृति भाव सदा हृदय में रहता है और कोई अवसर पाकर प्रकट हो जाता है पर स्मरण अलंकार के लिए इससे कुछ अधिक विशेषता की आवश्यकता है। जैसे विदेश गए हुए मित्र की स्मृति तो सदा रहती ही है और उसका चित्र, उसकी वस्तु आदि को देखकर वह भाव प्रगट हो जाता है पर जब इस भाव के विकसित होने का वर्णन उक्ति-वैचित्र्य द्वारा, सदृश वस्तु के अनुभव से या अन्य प्रकार से, किया जाय तभी स्मरण अलंकार होता है। एक उदाहरण लीजिए—

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

श्रीकृष्ण के साथ गोपियों ने जो लीलाएँ की हैं उनकी स्मृति तो उन्हें बनी ही हुई है पर कभी कभी वह हृदयस्थ स्मृति उस लीला के स्थान को देखकर, शीतल मंद बहती हुई हवायुक्त यमुनाजी के किनारे सघन कुंज की सुखद छाया का अनुभव कर, एकाएक उद्बुद्ध हो उठती है और उनका मन उस लीला के आनंद का स्मरण कर मग्न हो जाता है। इस कारण इसमें स्मृति भाव केवल न होकर स्मरण अलंकार हो गया है।

८. प्रौढ़ोक्ति अलंकार

किसी वस्तु के उत्कर्ष-वर्णन में जो हेतु न हो उसे हेतु मानकर कथन किया जाय तो उसे प्रौढ़ोक्ति कहते हैं। इस अलंकार में जिस अहेतु का कथन होता है वह वास्तविक न होते हुए भी वैसा होना चाहिए जो संभव होने पर उसका उत्कर्ष कर सके अर्थात् उसके विपरीत या अपकर्ष करनेवाला न हो। प्रौढ़ शब्द का अर्थ बढ़ा हुआ, बढ़कर है अर्थात् वास्तविक उक्ति से बहुत बढ़ाकर कहा हुआ। जैसे कहा जाय कि गंगाजी के कमल सा श्वेत तेरा यश है। इसमें यश की श्वेतता का कमल की श्वेतता के समान कहना ही इष्ट है पर केवल साधारण कमल न कहकर गंगाजी में का उत्पन्न कमल कहा गया है। यही बढ़ा हुआ कथन है और अहेतु है क्योंकि श्वेत कमल कैसे भी जल में हो एक सा ही श्वेत रहेगा। तब भी इस कथन से उत्कर्ष स्पष्ट है क्योंकि कहनेवाले के इस प्रकार के कथन का यही तात्पर्य है कि सबसे अधिक श्वेत कमल सा आपका यश शुभ्र है। यदि गंगाजी न कहकर यमुनाजी कहा जाता तो स्पष्ट ही अपकर्ष ज्ञात होता।

उदाहरण—

केस अमावस रैनि घन सघन तिमिर से स्याम ॥

यहाँ बाल को काला कहना तात्पर्य है और कैसा काला है इसे इस

प्रकार कहा है कि मेघाच्छादित अमावस की रात्रि के अंधकार सा है। अंधकार स्वतः काला है पर उस कालेपन का यथाशक्ति उत्कर्ष करने को मेघाच्छन्न अमावस्या की रात्रि का अंधकार सा बतलाया गया है, जो अंधकार के कालेपन का कारण नहीं है।

ख. अभेद प्रधान, आरोपमूल

९. रूपक

जब विषय या उपमेय पर विषयी अर्थात् उपमान का आरोप किया जाय तब रूपक अलंकार होता है। इसमें उपमेय तथा उपमान (दो होते भी) एक ही मान लिए जाते हैं अर्थात् प्रथम दूसरे का रूप हो जाता है। जैसे मुखरूपी चंद्र=मुख-चंद्र में रूपक अलंकार है। पर यदि कहा जाय कि यह मुख नहीं चंद्र है तो एक होने का वही भाव होते भी रूपक अलंकार न होकर अपह्नुति हो जाता है क्योंकि इसमें एक का निषेध कर दूसरे का होना कहा गया है। जहाँ उपमान उपमेय का रूप धारण कर वह कार्य करता हुआ वर्णित हो जो वास्तव में उपमेय करता है तब वहाँ केवल रूपक न होकर परिणाम अलंकार हो जाता है। इस प्रकार रूपक की परिभाषा हुई कि बिना अपह्नुति के जब उपमेय में उपमान का आरोप मात्र हो।

रूपक का पहिले तीन भेद किया गया है—परंपरित, सांग तथा निरंग।

१. परंपरित रूपक—जब एक रूपक का आधार दूसरा रूपक हो अर्थात् एक उपमेय में किसी उपमान का आरोप तभी हो सके जब दूसरे उपमेय में अन्य उपमान का आरोप किया जा चुका हो। एक का दूसरे का आधारभूत होने के कारण यह रूपक परंपरित हुआ। श्लेष द्वारा इसके होने या न होने से इसके दो भेद हुए और इनमें भी केवल

एक में या अनेक में होने या न होने से दो दो भेद हुए। इस प्रकार कुल चार भेद हुए।

अ. श्लिष्ट केवल परंपरित रूपक—जहाँ श्लेष से दो अर्थ लेकर ही परंपरित रूपक सिद्ध हो। जैसे हे महाराज, संसार के उद्दंड राजमंडल के लिए राहुरूपी तुम्हारे बाहुओं का कल्याण हो। यहाँ 'राज' शब्द के दो अर्थ राजा तथा चंद्र लेकर पहिला रूपक सिद्ध होता है अर्थात् राजाओं के मंडलरूपी चंद्रमंडल के लिए। यही आरोप दूसरे रूपक का कारण होता है। जिस प्रकार राहु चंद्र को दमन करता है उसी प्रकार महाराज के बाहु उद्दंड राजाओं को दमन करते हैं।

आ. श्लिष्ट माला परंपरित रूपक—जहाँ श्लेष से दो अर्थ लेते हुए कई रूपकों के आधार पर अन्य रूपक सिद्ध किया जाय। जैसे, पद्मोदय (पद्मा+उदय=सौभाग्य लक्ष्मी के उदयरूपी पद्म अर्थात् कमल के उदय) के लिए सूर्य रूप, सदागति (सताम्+आगतिः=सज्जनों के आगमनरूपी सदा+गतिः=सदा चलने) के लिए वायुरूप तथा भूभृदावली (राजाओं के समूहरूपी पर्वतों की माला) के लिए वज्र रूप आप ही पृथ्वी पर एक हैं। यहाँ श्लेष से तीन शब्दों के दो दो अर्थ लेकर तीन रूपकों से राजा पर सूर्य, वायु तथा वज्र का आरोप किया गया है।

इ. अश्लिष्ट केवल परंपरित रूपक—जहाँ बिना श्लेष के केवल एक परंपरित रूपक हो। जैसे, पापरूपी पक्षी के लिए राम-नाम रूपी बधिक की प्रशंसा सुनिए। यहाँ राम-नाम पर बधिक के आरोप करने का आधार पाप पर पक्षी का आरोपण है। क्योंकि जिस प्रकार बधिक पक्षी का नाश करता है उसी प्रकार राम-नाम पाप का करता है। यदि प्रथम रूपक न होता तो राम-नाम को बधिक बनाना सार्थक न होता।

ई. अश्लिष्ट माला परंपरित रूपक—जहाँ बिना श्लेष के कई रूपकों द्वारा अन्य रूपक सिद्ध किया जाय। जैसे कामदेव रूपी राजा के श्वेत

छत्र-रूप, दिशा-रूपी कामिनी के चंदन-तिलक-रूप तथा आकाश रूपी सरोवर के कमल रूप यह चंद्र सुशोभित हो रहा है।

यहाँ कामदेव का राजा पर, दिशा का कामिनी पर और आकाश का सरोवर पर आरोप करने ही से छत्र, तिलक तथा कमल का चंद्र पर आरोप हो सकता है।

इस प्रकार परंपरित रूपक के ये चार भेद हुए।

२. सांग रूपक—जिस रूपक में उपमान (विषयी) के सब अंगों का उपमेय पर आरोपण किया जाय तो वह सांग रूपक कहलाता है। इसके भी दो भेद होते हैं—समस्तवस्तुविषयक तथा एकदेशविवर्ति।

अ. समस्तवस्तुविषयक—वह सांग रूपक जिसमें सभी अंगों का आरोपण स्पष्ट शब्दों से प्रकट किया जाय। जैसे उदयगिरि रूपी उच्च मंच पर नवोदित सूर्य रूपी श्रीरामचंद्र के सुशोभित होने पर संत-रूपी कमल विकसित हुए और नेत्र रूपी भ्रमर प्रसन्न हुए।

यहाँ उदयाचल पर उदित नए सूर्य को देखकर कमल का खिलना तथा भौंरों का प्रसन्न होना ये कुल बातें उपमेय पर शब्दों द्वारा आरोपित की गई हैं।

आ. एकदेशविवर्ति—वह सांग रूपक जिसमें सभी अंगों का आरोपण स्पष्ट शब्दों में न होते हुए भी अर्थबल से होता हो। जैसे, लावण्य रूपी मधु से भरे उसके खिले हुए मुख का किसके नेत्र रूपी भ्रमर पान नहीं करते।

यहाँ मुख रूपी कमल का भाव अर्थबल से बिना लिए रूपक ठीक नहीं बैठता और वह स्पष्ट शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया गया है पर और सभी आवश्यक अंगों का आरोपण किया गया है। भ्रमर मधु का पान करते हैं पर किसी पुष्प ही से अतः एक पुष्प का अर्थ लाना आवश्यक है और मुख का कमल ही पर विशेष आरोप किया जाता है इसलिए कमल का भाव लेना पड़ा।

३. निरंग रूपक—जहाँ केवल उपमान का मुख्य उपमेय अंगी पर ही आरोपण हो और अन्य अंगों का सांगोपांग आरोपण न हो। इसके भी माला तथा केवल दो भेद होते हैं—

अ. माला—जहाँ अनेक उपमानों का उपमेय पर आरोप किया जाय। जैसे वह सुंदरी ब्रह्मा की सृजनकला की निपुणता रूप तथा दर्शकों के नेत्रों की चंद्रिका रूप है।

यहाँ निपुणता तथा चंद्रिका दो उपमानों का सुंदरी उपमेय पर आरोप है और उसके अन्य उपांगों का आरोप नहीं किया गया है।

आ. केवल—जहाँ केवल एक उपमान का उपमेय पर आरोप हो। जैसे, शोक रूपी सिंधु में डूबते हुए के आप अवलंब हुए।

इस प्रकार रूपक के ये आठ भेद हुए। कुछ आलंकारिकों की सम्मति है कि सांग रूपक भी श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट हो सकता है और यह ठीक भी है। श्लेष के शब्दालंकार होते भी इसका प्रयोग अर्थालंकार रूपक में हुआ है और वह अर्थालंकार ही माना जाता है क्योंकि शब्द श्लेष में शब्द ही की प्रमुखता रहती है, जिससे उसके स्थान पर दूसरा समानार्थी शब्द रख देने से वह अलंकार ही नष्ट हो जाता है पर अर्थ-श्लेष में ऐसा नहीं होता। रूपक में केवल अर्थ की प्रमुखता रहती है शब्द की नहीं।

उक्त भेदों के अतिरिक्त हिंदी में और भी कई भेद माने गए हैं। पहिले दो भेद किए गए—तद्रूप रूपक तथा अभेद रूपक और फिर प्रत्येक के अधिक, हीन तथा सम तीन तीन उपभेद माने गए हैं। इस प्रकार छ भेद हुए।

साहित्यदर्पण में लिखा है—अधिकारूढ़वैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्। अर्थात् जिस रूपक में विशिष्टता अधिक आरूढ़ हो तो उसे अधिकारूढ़ वैशिष्ट्यरूपक कहेंगे। जैसे, यह मुख निष्कलंक चंद्र है। इस उदाहरण में मुख पर चंद्र का आरोप है पर मुख की विशिष्टता चंद्र से

अधिक निष्कलंक होने के कारण बतलाई गई है। पर इस अवस्था में यह व्यतिरेक अलंकार क्यों न माना जाय ? उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ उत्कृष्टता दिखलाना ही व्यतिरेक है और यही ध्येय इस अलंकार का भी है। यदि कहा जाय कि इस अलंकार का यह ध्येय नहीं है तब एक नया भेद करने की आवश्यकता ही क्या है, यह शुद्ध रूपक मात्र है। उपमेय पर उपमान का आरोप ही रूपक है और उपमान तथा उपमेय में किसी गुण का प्रकृत्या अधिक या कम होना उनके आरोपण में कोई बाधा नहीं डालता। वैसी अवस्था में प्रधानतः रूपक होते हुए उनके अधिक, हीन, सम आदि भेद कर लिए जायँ पर वे रूपक ही रहेंगे। जब वे मूलतः रूपक न हों और उपमान तथा उपमेय में अधिकता और हीनता दिखलाई जाय तब अन्य अलंकार हो सकता है। जैसे—

उसका मुख चंद्र सा है—उपमा

उसका मुख चंद्र है—रूपक

निष्कलंक होने से उसका मुख सकलंक चंद्र से बढ़कर है—व्यतिरेक

उसका मुखचंद्र इस चद्रमा से निष्कलंक होने के कारण बढ़कर है—अधिक तद्रूप रूपक

उसका मुख मानों चंद्रमा है—उत्प्रेक्षा

ऊपर लिखे सभी उदाहरणों में मुख का चंद्र से साम्य लेकर ही वर्णन किया गया है पर सभी वर्णनों में कुछ न कुछ भिन्नता है और इसी भिन्नता के कारण कई अलंकार बन गए हैं। कहीं उपमा है, कहीं उत्प्रेक्षा है और कहीं शुद्ध रूपक है पर वे सब स्पष्ट हैं परंतु व्यतिरेक तथा अधिक तद्रूप रूपक में क्या भेद है यह समझने योग्य है क्योंकि दोनों के भाव एक ही हैं और जो कुछ भिन्नता है वह उनके वर्णन में है। व्यतिरेक के उदाहरण का वर्णन उपमान चंद्र से उपमेय मुख में अधिकता या विशिष्टता दिखलाना मात्र है और एक का दूसरे पर आरोपण नाम मात्र को नहीं किया गया है पर अधिक तद्रूप में मूलतः मुख पर

चंद्र का आरोप है और उस आरोपण के अनंतर मुखचंद्र को सकलंक चंद्र से बढ़कर कहा गया है। यही इन दोनों अलंकारों में भेद है।

१. अधिक तद्रूप—जहाँ उपमेय पर उपमान का आरोप करने के अनंतर उसे उसी उपमान से बढ़कर कहा जाय। जैसे,

जस-धुज वा धुज तें अधिक तीन लोक फहरात।

२. हीन तद्रूप—जहाँ उपमेय पर आरोपित उपमान उसी उपमान से हीन अर्थात् घटकर कहा जाय। जैसे,

दुइ भुज के हरि रघुबर सुंदर भेस।

यहाँ रामचंद्र उपमेय तथा हरि उपमान हैं और रामचंद्र-रूपी हरि द्विभुज होने से चतुर्भुज हरि से हीन हैं।

३. सम तद्रूप—जहाँ दोनों उपमान सम हों। जैसे,

नैन-कमल ये ऐन हैं और कमल केहि काम।

४. अधिक अभेद—तद्रूप तथा अभेद में इतनी ही विभिन्नता है कि प्रथम में उपमेय तथा उपमान में भिन्नता कोई शब्द अन्य आदि कहकर प्रकट कर दी जाती है पर अभेद में ऐसा नहीं किया जाता। इसमें दोनों में एकरूपता या अभेदता प्रगट की जाती है। अधिक अभेद में उपमेय तथा उपमान ऐसे अभिन्न होते हैं कि केवल किसी विशेषता ही के कारण उपमेय उपमान से अलग जान पड़ता है। जैसे,

सजीव पहार करी बकसे हैं।

५. हीन अभेद—जहाँ किसी हीनता से भेद ज्ञात हो। जैसे,

पच्छिराज बिन पच्छ को बीर समीर कुमार।

६. सम अभेद—जिसमें पूर्ण एकरूपता हो। जैसे,

रामकथा सुंदर करतारी। संसय-बिहँग उड़ावनहारी॥

१०. परिणाम

उपमेय पर जिस उपमान का आरोप किया जाय वही उपमेय का

कार्य भी करे तो वहाँ (केवल रूपक न होकर) परिणाम अलंकार होता है। रूपक और परिणाम में यह भेद है कि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप मात्र होता है और उससे वास्तविक कार्य से कोई संबंध नहीं रहता, जैसे, उसके मुखचंद्र को देखता हूँ। यहाँ देखना कार्य है पर उससे चंद्र से कोई संबंध नहीं है। चंद्र यहाँ केवल मुख की समानता प्रकट करता हुआ उसकी शोभा बतलाता है पर यदि कहा जाय कि वह नेत्र-कमल से देख रही है तब परिणाम अलंकार हो जायगा क्योंकि नेत्र के देखने का कार्य उपमान कमल द्वारा होना कहा गया है। रूपक में केवल समानता ही रहती है पर परिणाम में एकात्मकता सी लाई जाती है, जिससे उपमान उपमेय का कार्य तक करने लगता है, जो उसका काम नहीं है। उपमेय की प्रकृति का उपमान पर परिणमन होने से परिणाम अलंकार हो जाता है। एक प्रकार कहा जा सकता है कि परिणाम एक विशिष्ट प्रकार का रूपक है अर्थात् रूपक होते हुए भी वह उपमेय तथा उपमान में तादात्म्य स्थापित कर उपमेय का प्रकृत कार्य उपमान द्वारा कराता है।

उदा०—कर-कमलन धनु सायक फेरत।

यहाँ 'कर रूपी कमलों' में रूपक अलंकार स्पष्ट है पर कर का जो कार्य धनुष-तीर को फिराना है वह उपमान कमलों द्वारा होना कहा गया है, जो उसका कार्य नहीं है पर करों से उनकी इतनी एकात्मकता प्रगट की गई है कि वे करों के प्रकृत कार्य तक करने लगे हैं इसी से यहाँ केवल रूपक नहीं रह गया प्रत्युत् परिणाम अलंकार हो गया।

उदा०—लोचन-कंज बिसाल तें देखो देखत बाम। (भा० भू०)

इसमें नेत्र का कार्य देखना उपमान कमल द्वारा होना कहा गया है।

११. संदेह

वर्ण्य वस्तु (उपमेय) में जब किसी अन्य वस्तु (उपमान) का

चमत्कारिक रूप से संदेहात्मक वर्णन हो तब संदेहालंकार होता है। साधारण लौकिक संशय अलंकार नहीं हो सकता। जैसे, अंधकार में वृक्ष के ठूँठ को देखकर या एकाकी खंभे को देखकर उसमें मनुष्य का संदेह करना अलंकार नहीं हो जाता। संदेह तथा संदेह अलंकार भिन्न हैं। कवि की प्रतिभा से वर्णन में चमत्कार उत्पन्न करते हुए जहाँ संशय प्रकट किया जाता है वहीं यह अलंकार होता है। साथ ही उपमेय तथा उपमान का भी संबंध होना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि मुझे संदेह है कि आप विद्या के भार से विनम्र हैं या नहीं, तो इसमें संदेहालंकार नहीं है क्योंकि यहाँ किसी उपमान का उपमेय में सादृश्य के कारण संशय नहीं है। संदेह अलंकार तीन प्रकार का होता है— शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयांत।

१. शुद्ध संदेह—जिस वर्णन में संदेह ही संदेह हो। जैसे, यह प्रिया का मुख है, चंद्र है या नव-विकसित कमल है।

यहाँ उपमेय मुख तथा उपमान चंद्र और कमल में संदेह है कि इन तीन में यह कौन है। अर्थात् किसी प्रकार का निश्चय नहीं है।

२. निश्चयगर्भ—जब वर्णन में आरंभ तथा अंत में संदेह बना रहे पर मध्य के संदेह की निवृत्ति कर दी जाय तब वहाँ निश्चयगर्भ संदेह अलंकार होता है, जैसे, यह प्रिया का मुख है या चंद्र है पर चंद्र आकाश में रहता है इससे चंद्र नहीं है तब क्या नव-विकसित कमल है।

यहाँ पहिले मुख है या चंद्र है, यह संशय होता है पर उसकी निवृत्ति इस प्रकार की जाती है कि चंद्र आकाशचारी है अतः यह निश्चय हो जाता है कि वह चंद्र नहीं है। पर अभी यह संदेह बना ही है कि वह मुख है या कोई और वस्तु। यदि निश्चय हो जाता तो फिर तीसरा संदेह करने का अवसर न रह जाता कि यह कमल तो नहीं है। इसलिए बीच में एक निश्चय होते भी संदेह अलंकार बना हुआ है और वह निश्चयगर्भ या निश्चयमध्य संदेह कहलाता है।

३. निश्चयांत—जिस वर्णन में पहिले संदेह हो पर अंत में कुछ निश्चय हो जाय। जैसे यह प्रिया का मुख है या नव-विकसित कमल है पर कमल में यह विव्वोक भाव कहाँ से आ सकता है।

यहाँ पहिले संदेह है कि यह मुख है या कमल है पर अंत में निश्चय होता है कि कमल नहीं है। इसलिए यह निश्चयांत संदेह अलंकार हुआ।

सूचना—दंडी, मम्मट आदि अलंकारशास्त्री इस अलंकार को ससंदेह अलंकार लिखते हैं।

१२. भ्रांति या भ्रम अलंकार

सादृश्य के कारण वर्ण्य वस्तु में अवर्ण्य की भ्रांति काव्यवैचित्र्य के साथ वर्णित हो तब भ्रमालंकार होता है। इस अलंकार में दो बातें आवश्यक हैं। पहिले तो भ्रम का कारण साम्य ही होना चाहिए और दूसरे इस भ्रम का वर्णन भी कवि की प्रतिभा से वैचित्र्य लिए हुए हो। साधारणतः रस्सी में सर्प का भ्रम होना अलंकार नहीं है क्योंकि ऐसा स्वभावतः हो जाता है। भय के कारण किसीको सर्वत्र शत्रु ही दिखलायँ तो वहाँ भी भ्रांति अलंकार नहीं है क्योंकि न इसमें सादृश्य के कारण भ्रम हुआ है और न यह उक्ति-वैचित्र्य ही लिए हुए है। जिस प्रकार चोर या दोषी को सभी पुलीस मालूम होते हैं, उसी प्रकार भय से इसे सभी शत्रु ज्ञात होते हैं।

जब तक एक ही वस्तु का भ्रम वर्णन किया जाय तभी तक यह अलंकार होता है। कई भ्रम या भ्रांति आ जाने पर वह उल्लेख अलंकार कहलाता है। रूपक अलंकार में उपमान का उपमेय पर आरोप होता है और यही भ्रम अलंकार में भी होता है पर प्रथम में दोनों को भिन्न वस्तु जानते हुए भी सादृश्य के कारण एक मानते हैं और भ्रम में दोनों की भिन्नता का ज्ञान नहीं रहता प्रत्युत् उपमेय में उपमान की भ्रांति हो जाती है। एक उदाहरण लीजिए—

जो जेहि मन भावै सो लेहीं। मणि मुख मेलि डारि कपि देहीं।

यहाँ बंदर मणि को अज्ञानता से फल समझकर मुख में डालते हैं पर किसी प्रकार का स्वाद न पाकर तथा कड़ा होने से उसे थूक देते हैं। इसमें भ्रम अज्ञानता के कारण है इसलिए भ्रम अलंकार नहीं है। मसल है कि बंदर आदी का स्वाद क्या जाने ? अज्ञानता से चाहे वह मुख में डाल ले पर तुरंत थूक देगा। इसलिए इसमें भ्रम अलंकार खोजना मूर्खतामात्र होगी। भ्रम अलंकार का एक उदाहरण लीजिए— यह भ्रमर कमल समझकर उसके मुख पर मँडरा रहा है। यहाँ मुख (उपमेय) में सादृश्य के कारण कमल (उपमान) का भ्रम कर भ्रमर उसीका सुगंध लेने की इच्छा कर रहा है। सादृश्य भी है तथा उक्ति-वैचित्र्य भी है अतः भ्रम अलंकार हुआ। उदा०—

बरनि सकै को लाल अब वा तरुनी के अंग।
नैन तामरस जानि अलि भ्रम सों तजै न संग ॥

१३. निश्चय अलंकार

अप्रकृत (उपमान) का निषेध करके प्रकृत (उपमेय) की स्थापना करना ही निश्चय अलंकार है। जैसे, हे भ्रमर, यह कमल नहीं, मुख है और ये नीले कमल नहीं हैं, नेत्र हैं, तुम क्यों इनके चारों ओर चक्कर काट रहे हो। यहाँ उपमानों का निषेध करके उपमेय का निश्चयात्मक स्थापन किया गया है। इसे निश्चयांत संदेह नहीं कह सकते क्योंकि इसमें संदेह तथा निश्चय दोनों एक ही में रहता है। निश्चय में एक के संदेह को दूसरा दूर करता है। संदेह में संशय नहीं रहता प्रत्युत् भ्रम से उसमें निश्चयात्म बुद्धि रहती है। यह भ्रम अलंकार भी नहीं है क्योंकि यदि उपर्युक्त उदाहरण इतना ही होता कि भ्रमर मुख तथा नेत्र को कमल समझकर मँडरा रहे हैं, तो भ्रम अलंकार होता पर अन्य द्वारा उसके भ्रम को दूर कर दिया जाने से भ्रम न होकर निश्चय हो गया।

यह भी हो सकता है कि वास्तव में वहाँ कोई भ्रमर भ्रम करने को न हो और केवल उक्ति-वैचित्र्य द्वारा उपमेय की प्रशंसामात्र के लिए यह कथन हो। अपह्नुति में प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत का आरोप किया जाता है, इसलिए वह भी निश्चय से बिल्कुल भिन्न है। रूपकध्वनि भी यह नहीं हो सकता क्योंकि इसमें यदि आरोप पूर्णतया स्पष्ट कह दिया जाय तो यह रूपक हो जायगा और निश्चय में उपमान का आरोप होना दूर उसका निषेध कर दिया जाता है। इसलिए निश्चय इन सबसे स्वतंत्र अलंकार है। साधारण भ्रम-निवारण में यह अलंकार नहीं माना जाता। उदाहरण—

कत चितवत मुख, ससि नहीं, निश्चल खंजन चकोर ॥

१४. उल्लेख अलंकार

जब एक ही वर्ण्य का अनेक रूप में कई व्यक्ति अपने अनुभवानुसार या एक व्यक्ति उसके अनेक गुणों के अनुसार कई प्रकार से वर्णन करे तो उल्लेख अलंकार होता है। इसलिए उल्लेख दो प्रकार का कहा जाएगा। प्रथम वह है जहाँ अनेक व्यक्ति एक ही वस्तु को अपने अनुभव, रुचि आदि के अनुसार कई रूप में देखते हुए उसका अनेक प्रकार से वर्णन करें। दूसरा वह है जहाँ एक ही वर्ण्य वस्तु का एक ही व्याख्याता कई प्रकार से उसके गुणों के अनुसार वर्णन करे। इस अलंकार में उपमेय या वर्ण्य पर अवर्ण्य का आरोप नहीं होता प्रत्युत् अपनी अपनी रुचि आदि के कारण या उसके अनेक गुणों के कारण उसका बहुत प्रकार से वर्णन होता है। यह भ्रम से नहीं होता है, ऐसा कहा जा सकता है पर वास्तव में देखा जाय तो भ्रम का अस्पष्ट समावेश अवश्य रहता है। जैसे, श्रीकृष्ण को यशोदा ने बालक, गोपियों ने कामदेव तथा शत्रु ने काल समझा। वास्तव में श्रीकृष्ण एक ही हैं पर सभी अपने अनुभव के अनुसार भ्रमवश उन्हें कई रूप में देख रहे हैं।

उदाहरण—(प्रथम उल्लेख)

मल्ल वज्र जाने अरु नर जाने नरवर
नारि जाने यही काम मूरति रसाल है।
गोप जानै सुजन सुजादव कुलदेव जाने
असु न नृपति जाने साँसता कराल है॥
पंडित विराट जाने जोगी परतत्व जाने
रंगभूमि रामकृष्ण गए ऐसो हाल है।
नंद जाने बालक 'गुविंद' प्रतिपाल जाने
साल शत्रुवंश जाने कंस जाने काल है॥

उदा०—(द्वितीय उल्लेख)

सीता सील सरूप में तू रति की उनहार।
वाणी है वर वचन मैं सब बिधि पूरी नार॥ (क० भ०)

यहाँ एक ही व्यक्ति सीताजी (उपमेय) का उनके गुणों के अनुसार रति तथा सरस्वती (उपमान) से समानता दिखलाते हुए दो प्रकार से वर्णन करता है।

१५. अपह्नुति अलंकार

अपह्नुति शब्द का अर्थ निषेध करना या छिपाना है। जहाँ प्रकृत वस्तु अर्थात् उपमेय का निषेध कर या छिपाकर अप्रकृत अर्थात् उपमान का समर्थन या स्थापन किया जाय, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। सादृश्य के कारण गुण विशेष द्वारा उपमेय का अपह्नव करके अर्थात् निषेध करके उसके स्थान पर उपमान का आरोप किया जाय तब वह अपह्नुति कहलाता है, जैसे यह चंद्रमा नहीं है, आकाशगंगा का कमल पुष्प है। यहाँ प्रकृत वस्तु चंद्रमा का निषेध करके उसके स्थान पर अप्रकृत कमल का स्थापन किया गया है। चंद्र तथा कमल में सादृश्य के कारण ऐसा वर्णन हुआ है। अपह्नति अलंकार के

छ भेद हैं, जिनमें पूर्वोक्त अपह्नति शुद्ध अपह्नुति के नाम से प्रथम भेद कहलाता है।

उदा०—चपला न चमकत चमक हथियारन की
बोलत न मोर बंदी सुभट समाज है। (केशव)

२. हेत्वापह्नुति—जिसमें अपह्नव करने का अर्थात् निषेध करने का हेतु भी साथ ही दिया जाय। जैसे कोई विरही या विरहिणी आकाश में चंद्रमा को देखकर कहे कि चंद्रमा में तीव्रता नहीं होती और रात्रि में सूर्य नहीं होता (अर्थात् चंद्र-सूर्य का सकारण निषेध करते हुए) अतः यह बड़वाग्नि है।

उदा०—लखि सरवर के सलिल मैं नीको सोभित होय।
कमल न चंचल ससि नहीं बिन कलंक मुख जोय ॥
(क० भ०)

३. पर्यस्तापह्नुति—जहाँ प्रकृत वस्तु के धर्म का अप्रकृत पर आरोप करते हुए प्रकृत वस्तु का निषेध किया जाय। जैसे, यह सुधाधर (चंद्रमा) नहीं है, मुख-सुधाधर (अमृत भरे अधर) का प्रकाश है। यहाँ प्रकृत वस्तु चंद्रमा के सुधावर्षण तथा प्रकाश गुणों का अप्रकृत मुख पर आरोप करते हुए अपह्नव किया गया है। इस अलंकार में प्रकृत वस्तु वाची शब्द का दो बार प्रयोग होता है और कभी कभी श्लेष से दो अर्थ लिए जाते हैं।

उदा०—हिये लाल के चुभत ही बेसुध किये निदान।
तीखे मनमथ सर नहीं तिय दृग तीछन बान ॥ (सोम०)

४. भ्रांत्यापह्नुति—जब किसी का भ्रम या शंका मिटाते हुए अपह्नव किया जाय तथा असत्य को सत्य बतलाया जाय। जैसे हे सखी, यह ज्वर नहीं है, काम-ज्वर है। यहाँ सखी की शंका या भ्रम दूर करते हुए अर्थात् साधारण ज्वर का निषेध करते हुए कहा गया है कि यह काम-ज्वर है, इसीसे भ्रांत्यापह्नुति हुई। प्रकृत का निषेध होने ही से

यह अलंकार है। यदि अप्रकृत का निषेध होता तो निश्चय अलंकार हो जाता तथा अपह्नुति न रह जाती।

उदा०—लाल कहाँ लाली लई लोयन कोयनि माहिं।
बाल तिहारे दृगन की परी दृगनि में छाहिं॥
(बिहारी)

५. छेकापह्नुति—सत्य पर गोपनीय बात को कहकर उसे श्लेष से या अन्य प्रकार से युक्ति पूर्ण असत्य द्वारा छिपाया जाय। यह अपह्नुति का दूसरा लक्षण माना गया है। भ्रांत्यापह्नुति में असत्य कहकर भ्रम दूर किया जाता है पर इसमें कहा हुआ सत्य असत्य उक्ति द्वारा छिपाया जाता है। जैसे किसीने कहा कि हमारे ओंठों पर क्षत कर दिया है। उसकी सखी ने कहा कि क्या तुम्हारे पति ने ऐसा किया है? यह सुन गोपनीय सत्य बात को छिपाने के लिए उसने कहा कि नहीं, जाड़े की हवा ने ऐसा कर दिया है। 'मुकरी' इसी अलंकार में कही जाती है। छेक शब्द का अर्थ चतुर, नागर है।

उदा०—आये अति सीतल भई दीनो ताप निवारि।
क्यों सखि प्रीतम के लखें ना सखि ससिहिं निहारि॥

६. कैतवापह्नुति—जहाँ अप्रकृत वस्तु का आरोप करके प्रकृत वस्तु का निषेध मिस, बहाना, छल आदि शब्दों के द्वारा किया जाता है। एक दम वह नहीं है ऐसा कहकर नहीं किया जाता। जैसे, कैकेयी के बहाने राजा दशरथ के सिर पर मृत्यु नाच रही है। यदि इस प्रकार कहा जाय कि 'यह कैकेयी नहीं है, राजा दशरथ की मृत्यु है' तब शुद्ध अपह्नुति हो जायगी। इस अलंकार में राजा दशरथ की मृत्यु अप्रकृत है और उसका कैकेयी के द्वारा होना प्रकृत है, तथा प्रकृत वस्तु का बहाने द्वारा निषेध करके अप्रकृत का आरोप किया गया है। कार्य-कारण का संबंध है।

उदा०—निकसि तमालन तें झमकि चंचल गति दरसाय ।
कामिनि के मिस मो निकट दामिनि है है जाय ॥

यह अलंकार वक्रोक्ति से इस प्रकार भिन्न है कि इसमें अपनी ही कही हुई बात को स्वयं छिपाकर दूसरी बात कही जाती है पर वक्रोक्ति में दूसरे के द्वारा कही हुई बात का अन्य अर्थ लगा लिया जाता है। व्याजोक्ति में भी गुप्त बात किसी प्रकार प्रकट होने पर उसे छिपानेवाला छिपाता है पर इस अलंकार में स्वयं कहकर उसका निषेध करते हुए युक्ति द्वारा छिपाता है।

अपह्नुति अलंकार सादृश्य मूलक या औपम्यगत है, इस पर शास्त्रकारों के दो मत हैं पर अधिक मत उसके औपम्यगत होने ही पर है। कुछ शास्त्रकारों का यह भी मत है कि अपह्नुति के कई भेद औपम्यगत हैं और कई नहीं हैं। पर वास्तव में देखा जाय तो बिना किसी प्रकार का साम्य हुए कैसे एक का निषेध करके उसके स्थान पर दूसरे का आरोप किया जा सकता है इसलिए शुद्धतः उपमेय-उपमान का न संबंध होते हुए भी दोनों में साम्य तो कुछ न कुछ रहता ही है।

अभेद-प्रधान, अध्यवसायमूल

१६. उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा उत्+प्र+ईक्षा से बना है। उत् का अर्थ अत्यधिक शंका है और प्र+ईक्षा=प्रेक्षा का अर्थ विशेष रूप से देखना। इस प्रकार उत्प्रेक्षा का साधारण अर्थ हुआ शंका के साथ देखना। 'उसका मुख क्या है मानों चंद्रमा है', इसमें मुख पर चंद्रमा की उत्प्रेक्षा की गई है अर्थात् मुख को विशेष संदेह के साथ चंद्रमा में देखा गया, मुख पर चंद्रमा की संभावना की गई। निश्चय, भ्रम, संदेह या विकल्प तथा

संभावना ये वस्तुज्ञान के भेद हैं। किसी वस्तु को वही समझना निश्चय है पर एक वस्तु को निश्चित रूप से दूसरी समझ लेना भ्रम या भ्रांति है। भ्रम दूर होने पर ही इस भ्रम का पता लगता है। जब किसी वस्तु में इस प्रकार की शंका हो कि वह एक वस्तु है या दूसरी, तब संदेह या विकल्प होता है पर जब एक वस्तु के दूसरी होने की विशेष शंका होती है तब वह संभावना होती है। जैसे, वह वृक्ष का ठूँठ है या मनुष्य है, इसमें संदेह या विकल्प है पर जब यह कहा जाय कि 'वह वृक्ष का ठूँठ सा है पर मनुष्य होने की विशेष शंका होती है' अर्थात् मनुष्य होने की अधिक संभावना है तब संदेह या विकल्प न रहकर संभावना हो जाती है। भ्रम, संदेह तथा संभावना में दो वस्तुएँ या कोटियाँ होती हैं। भ्रम में असत्य वस्तु को निश्चित रूप से सत्य वस्तु मान लिया जाता है, संदेह में दोनों में सम रूप से विकल्प रहता है पर संभावना में एक अधिकप्रबल होता है, विशेष कर असत्य वस्तु।

उपमेय (प्रकृत, वर्ण्य) में उपमान (अप्रकृत, अवर्ण्य) की भेदज्ञान पूर्वक उक्ति-वैचित्र्य के साथ संभावना करना ही उत्प्रेक्षा अलंकार है। यह संभावना आहार्य अर्थात् कल्पित है, अनाहार्य नहीं जैसा कि भ्रम अलंकार में होता है। उपमेय तथा उपमान को भिन्न जानते हुए भी चमत्कारपूर्ण शैली में प्रथम पर द्वितीय की संभावना की जाती है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द मानों, इव, मनु, जनु आदि हैं।

संस्कृत लक्षणग्रंथों में उत्प्रेक्षा के सैकड़ों भेद किए गए हैं पर वे सब विशेष स्पष्ट नहीं हैं और न वे भेद चमत्कार पूर्ण हैं। पंडितराज जगन्नाथजी की सम्मति है कि इन सब का विवरण देना व्यर्थ है और उन्होंने केवल 'हेतुफलस्वरूपोत्कानां त्रयाणां' भेद माने हैं अर्थात् हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा तथा स्वरूपोत्प्रेक्षा या वस्तूत्प्रेक्षा। इनके सिवा दो और गम्योत्प्रेक्षा तथा सापह्नवोत्प्रेक्षा हैं।

१. वस्तूत्प्रेक्षा—जहाँ एक वस्तु पर दूसरे वस्तु की उत्प्रेक्षा की

जाय। इसके दो भेद होते हैं—उक्तविषया तथा अनुक्तविषया। जिसमें विषय अर्थात् उपमेय कहा गया हो, वह उक्तविषया तथा जिसमें विषय न कहा गया हो वह अनुक्तविषया।

उदाहरण (उक्तविषया)—

नैन मनों अरबिंद हैं सरस बिसाल बिसेषि।

यहाँ 'विशेष रूप से विशाल तथा सरस नेत्र' उत्प्रेक्षा का विषय अर्थात् वर्ण्य वस्तु है जो कहा गया है और उसी पर कमल की उत्प्रेक्षा की गई है कि नेत्र मानों अरविंद हैं। तात्पर्य नेत्रों की शोभा के वर्णन ही से है पर उनके विशेष रूप से विशाल तथा सरस होने के कारण कवि इन गुणों पर दृष्टि आकर्षित करने के लिए नेत्रों पर कमल की उत्प्रेक्षा करता है कि ये इतने विशाल तथा सरस हैं कि नेत्र न होकर विशेष संभव है कि वे कमल हों। क्योंकि साधारणतः नेत्र इतने सरस तथा बड़े नहीं होते।

उदाहरण अनुक्तविषया—

'अंजन बरषि मनों करत गगन व्याप्त संसार।'

यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय 'रात्रि का घना अंधकार फैलना' है, पर वह कहा नहीं गया है और केवल उत्प्रेक्षा की गई है। सूर्यास्त हो जाने पर अंधकार फैलता ही है पर उक्ति-वैचित्र्य द्वारा संभावना करते हुए उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है कि मानों आकाश काजल बरस-कर संसार को व्याप्त कर रहा है।

२. हेतूत्प्रेक्षा—जहाँ किसी वास्तविक हेतु पर अहेतु की उत्प्रेक्षा की जाय। जैसे कहा जाय कि वीणा सरस्वतीजी के विरह-कष्ट में मौन पड़ी है। स्वभावतः वीणा न बजाए जाने पर मौन रहेगी पर उस मौन का कारण विरह-कष्ट संभावित किया गया है। हेतूत्प्रेक्षा के दो भेद होते हैं—सिद्धास्पद तथा असिद्धास्पद।

उदाहरण (सिद्धास्पद)—

मनो चलीं आँगन कठिन तातें राते पायँ।

सुकुमार स्वस्थ युवतियों की हथेली, तलवे आदि स्वभावतः लाल होते हैं पर कवि ने तलवे की लाली पर यह उत्प्रेक्षा की है कि वह मानों कठोर भूमि पर चलने के कारण लाल हो गया है। वास्तविक हेतु पर जिस अहेतु की उत्प्रेक्षा की गई है वह सिद्ध है क्योंकि कड़ी वस्तु पर चलने से सुकुमार पैर लाल होंगे ही और स्त्रियाँ आँगन में चलती ही हैं।

उदाहरण (असिद्धास्पद)—

मोर मुकुट की चंद्रिकनि यों राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सतचंद॥

श्रीकृष्ण के मुकुट के मोरपंख में बहुत सी चंद्रिकाएँ हैं। कवि इसपर हेतूत्प्रेक्षा करता है कि मानों शिवजी के मस्तक पर एक चंद्रिका देखकर द्वेष से श्रीकृष्ण ने सौ चंद्रिका धारण कर लिया है। यहाँ द्वेषबुद्धि के कारण सौ चंद्रिका धारण करना अहेतु है, जो असिद्ध है। वास्तविक हेतु तो शृंगारमात्र है।

३. फलोत्प्रेक्षा—जहाँ कार्य के वास्तविक फल को न मानकर उसपर अफल की अर्थात् जो वास्तव में फल नहीं है, उसकी उत्प्रेक्षा की जाय। इसके भी दो भेद सिद्धास्पद तथा असिद्धास्पद हैं।

सिद्धास्पद का उदाहरण—

'कमल-हृदय में देख मधुप को
ईर्ष्या से दिनकर पा ताप।
निज कर से समेट सतदल को
मानों चला गया वह आप॥'

यहाँ संध्या होने पर सूर्य के अस्त होने से कमल के दलों का संपुटित हो जाना तथा उसमें स्थित भ्रमर का बंद हो जाना वास्तविक

फल है पर इस फल को छोड़कर एक असत्य फल की, अर्थात् कमल के प्रेम से भ्रमर को हृदय में स्थान देने पर संतप्त हो सूर्य ने अपने करों से उसके दलों को समेट दिया और स्वयं चला गया, उत्प्रेक्षा की गई है जो वास्तविक नहीं है। यह अफल का भाव कल्पित मात्र है। पर सिद्ध इसलिए है कि अफल भी फल के समान ही घटित होता है अर्थात् सूर्यास्त पर प्रकृत्या कमल का संकुचित होना तथा सूर्य का करों द्वारा कमल को संपुटित कर चले जाना दोनों ही एक होने से समान रूपेण सिद्ध हैं।

असिद्धास्पद का उदाहरण—

पद समता को मनु कमल जल सेवत इक पाय।

कमल जल में एक नाल पर स्वभावतः रहता है और इस प्रकार उसका रहना उसके जीवन के लिए आवश्यक है। यहाँ वास्तविक फल जीवन-रस प्राप्ति के लिए एक पाँव (नाल) पर खड़े रहना है पर उस पर अफल की, जो वास्तविक नहीं है, अर्थात् चरण की बराबरी करने के लिए एक पैर पर खड़े हो तपस्या करने की उत्प्रेक्षा की गई है। इसमें जड़ वस्तु में किसी कामना से तप करना असिद्ध आधार है।

[हेतु तथा फल की उत्प्रेक्षाओं में विभिन्नता बहुत कम होती है इसलिए इसकी पहिचान करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उत्प्रेक्षा की विशेषता किसपर अधिक है, हेतु पर या क्रिया के फल पर। जैसे उक्त असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण यों कहा जाय कि मानों कमल तुम्हारे चरणों की समता एक पैर से तप करने के कारण कर सका है, तब वहाँ हेतूत्प्रेक्षा हो जायगी।

४. गम्योत्प्रेक्षा—जिन उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षावाचक इव, मानों आदि शब्द न हों तो वे गम्योत्प्रेक्षा, गुप्तोत्प्रेक्षा, ललितोत्प्रेक्षा या प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा कहलाती हैं। सभी उत्प्रेक्षा गम्य हो सकती हैं। जैसे असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा का पूर्व उदाहरण इस प्रकार कहा जाय—

तुअ पद समता को कमल जल सेवत इक पाय ।

तो उत्प्रेक्षावाचक शब्द के अभाव से वह गम्य या प्रतीयमाना असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जाएगा ।

५. सापह्नवोत्प्रेक्षा—अपह्नुति के साथ अर्थात् एक का निषेध करते हुए जहाँ उत्प्रेक्षा की जाय । उत्प्रेक्षा के सभी भेदों के साथ अपह्नुति मिलाकर इसके भी अनेक भेद हो सकते हैं । यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जाता है—

कमलन कहँ तेहि मित्र गुनि, मानहु हतिबे काज ।
प्रविशहिं सर, नहिं न्हान हित, रवि-तापित गजराज ॥

स्वभावतः हाथी घाम से तप्त होकर सरोवर में नहाने या ठंढे होने के लिए प्रवेश करते हैं पर इस स्नान का निषेध करके यह उत्प्रेक्षा की गई है कि सूर्य से पीड़ित होने के कारण उसके मित्र कमलों को नष्ट करने के लिए सरोवर में घुसे हैं । हाथी का सरोवर में स्नान करना सहज स्वाभाविक है पर इस फल पर अफल शत्रु के मित्र को मारने के लिए प्रवेश करना उत्प्रेक्षा की गई है अतः सापह्नवफलोत्प्रेक्षा का यह उदाहरण है ।

१७. अतिशयोक्ति अलंकार

जहाँ विषय (अप्रस्तुत या उपमान) विषयिन् (प्रस्तुत या उपमेय) को निश्चित रूप से अपने में ले ले और एक दम अभेद प्रतीति हो अर्थात् अध्यवसाय सिद्ध हो जाय तब वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है । आरोप तथा अध्यवसाय में यह भिन्नता है कि आरोप में अप्रस्तुत या उपमान में प्रस्तुत या उपमेय की शंका होती है और दोनों ही का स्पष्ट रूप से उल्लेख होता है पर अध्यवसाय में उल्लेख होता भी है तथा नहीं भी पर इसमें उपमानमात्र ही की शंका होती है क्योंकि वह उपमेय को अपने में ले लेता है अर्थात् निगल सा जाता है।

अध्यवसाय के पहिले दो भेद सिद्ध तथा साध्य और दो भेद स्वारसिक तथा उत्पाद्य होते हैं। सिद्ध अध्यवसाय वह है जहाँ उपमान उपमेय को एक दम निगल सा जाय अर्थात् निश्चयात्मक अभेद प्रतीति होने से उसका उल्लेख ही न हो और साध्य अध्यवसाय में निश्चयात्मक अभेद प्रतीति न होने से दोनों का उल्लेख आवश्यक है। अतः प्रथम अतिशयोक्ति तथा द्वितीय उत्प्रेक्षा में आता है। स्वारसिक अध्यवसाय में भ्रम से उपमान उपमेय सा मान लिया जाता है, जो भ्रमालंकार के अंतर्गत आता है और उत्पाद्य अध्यवसाय में उपमान तथा उपमेय को भिन्न जानते हुए भी एक का दूसरे पर आरोप किया जाता है, जो उत्प्रेक्षा का विषय है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय सिद्ध होता सा अर्थात् साध्यमात्र होता है पर अतिशयोक्ति में सिद्ध ही रहता है। उत्प्रेक्षा में साध्य होने ही से उपमान का उल्लेख होता है पर उपमेय से वह गौण रूप में रहता है और अतिशयोक्ति में उपमेय का न उल्लेख होना ही आवश्यक नहीं है।

उपमान का उपमेय को निगरण करना या निगलना ही अतिशय है और ऐसी उक्ति ही अतिशयोक्ति अलंकार कहलाई। अतिशयोक्ति के नीचे लिखे प्रकार से कई भेद होते हैं—

१. भेद में अभेद या इसके विपरीत
अभेद में भेद।

२. संबंध में असंबंध या इसके विपरीत
असंबंध में संबंध।

३. कारण तथा कार्य के साथ साथ या अतिशीघ्र या विपरीत रीति से होने से तीन भेद।

१. रूपकातिशयोक्ति—जहाँ भेद होते हुए भी निश्चयात्मक अभेद ज्ञान के कारण उपमान उपमेय का निगरण कर ले अर्थात् केवल उपमान ही वर्णित हो उपमेय का उल्लेख न हो। जैसे, कनकलता पर चंद्रमा

एक धनुष तथा दो बाण लिए शोभित है। यहाँ नायिका के शरीर का कनकलता के रूप में, मुख का चंद्रमा के रूप में, भँव का धनुष के रूप में और कटाक्ष का बाण के रूप में अध्यवसान है। केवल उपमानों ही का उल्लेख है, जिनमें उपमेयों का निगरण हो गया है क्योंकि उनमें निश्चयात्मक अभेद ज्ञान है।

२. भेदकातिशयोक्ति—जहाँ अभेद रहते हुए भेद प्रकट किया जाय अर्थात् जिनमें अभेदता है उनमें अन्य सब का एक ही में अध्यवसान कर उसका सबसे भेद प्रकट किया जाय। जैसे, उसका हँसना, बोलना तथा चलना सबसे भिन्न है। यहाँ सभी का हँसना, बोलना तथा चलना अभिन्न होते भी उनमें से एक का हँसना, बोलना तथा चलना सबसे भिन्न कहा गया है। साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि और सब के हँसने, बोलने, चलने का उसी एक में अध्यवसान हो गया है और ऐसा अध्यवसान होने पर भी उस एक में कुछ और भी विशेषता है।

उदा०—अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुणि समान।
वे नैना औरै कछू जेहि बस होत सुजान॥

३. संबंधातिशयोक्ति—जहाँ असंबंध वस्तुओं में संबंध दिखलाते हुए अतिशयोक्ति की जाय। जैसे, रावण के रथ के झंडे में देवताओं के विमान अटक जाते हैं। यहाँ झंडे तथा आसमान के उस ऊँचे तल से कोई संबंध नहीं है, जहाँ विमान उड़ते हैं पर संबंध दिखलाकर झंडे की ऊँचाई की अतिशयोक्ति की गई है। उदाहरण—

धाम सुदामैं लह्यो हरि सों जेहि देखिए देखि दिगंपति भीवत।
बैठि जितै गन चातक के घन ते बन चोंच चलाय के पीवत॥

४. असंबंधातिशयोक्ति—जहाँ संबंध हो पर असंबंधता दिखलाकर अतिशयोक्ति की जाय। जैसे, तुम्हारे हाथ के आगे कल्पवृक्ष कैसे सम्मानित हो। यहाँ हाथ का तथा कल्पवृक्ष का दान देने में संबंध है पर उनमें असंबंधता दिखलाकर हाथ के दान पर अतिशयोक्ति की गई है।

उदा०—"औधपुरी महिमा यों चितै अमरावती को हम क्यों सनमानै ?"

[सूचना—कुछ लोगों ने योग्य को अयोग्य तथा अयोग्य को योग्य कहकर संबंधातिशयोक्ति के दो भेद माने हैं पर वह ठीक नहीं ज्ञात होता।

५. अत्यंतातिशयोक्ति—जहाँ कार्य के अनंतर कारण का उत्पन्न होना दिखलाया जाय। स्वभावतः कारण के बाद कार्य होता है पर इस अलंकार में उसके विपरीत कार्य के अनंतर कारण का होना दिखलाया जाता है। जैसे, सेना की यात्रा के पहिले ही शत्रु ने पराजय स्वीकार कर ली। यहाँ सेना-चालन कारण है पर उसके होने के पहिले ही कार्य पूरा हो गया।

उदा०—चढ़ी फौज पीछें जु अरि गयो पहिलहीं ऊठि।
जुद्ध होन पायो न गढ़ गयो पहलहीं टूटि॥
"पाहि कहन पायो नहीं ग्राह ग्रहीत गयंद।
उधरि गयौ औ सामुहें देख्यो करुणाकंद॥"

६. अक्रमातिशयोक्ति—जहाँ कार्य तथा कारण का एक साथ होना दिखलाया जाय। जैसे, रामचंद्र के बाण धनुष तथा शत्रु पर साथ ही लगते हैं। पहिले धनुष पर बाण चढ़ाया जाता है, फिर छोड़ा जाता है और तब शत्रु के शरीर में लगता है पर यहाँ सब कार्य एक साथ होना दिखलाया गया है। उदा०—

संधान्यो प्रभु बिसिष कराला। उठी उदधि उर अंतरज्वाला॥

७. चपलातिशयोक्ति—जहाँ कारण के बाद विद्युत्गति से शीघ्र ही कार्य का होना दिखलाया जाय। कार्य के होने में जितना समय लगना चाहिए उतना न लगकर अति शीघ्र कार्य का हो जाना ही इस अलंकार की अतिशयता है। जैसे पति के विदेशगमन का समाचार सुनते ही वह इतनी कृश हो गई कि अँगूठी कड़ा के समान उसके हाथों में शोभित हो गई। कृश होने में जितना समय लगना चाहिए उतना समय चपला की चमक के समान निकल गया और वह झट कृश हो गई।

उदा०—तब शिव तीसर नैन उघारा। चितवत काम भयो जरि छारा।

८. सापह्नवातिशयोक्ति—अपह्नुति लिए हुए जहाँ अतिशयोक्ति की जाय। जैसे सुधा तो तुम्हारे मुख में है, पर लोग पागल होकर चंद्र में बतलाते हैं। यहाँ सुधा का चंद्र में होना, जो वास्तविक है, अपह्नव करके मुख में उसे आरोपित किया गया है और अतिशयोक्ति यह है कि निश्चयात्मक रूप से उपमेय मुख का उल्लेख होते भी उसका उपमान चंद्र में अध्यवसान कर दिया गया है।

उदा०—अहि ससि मंडल पै लसै नागलोक जनि जानु।

ग. भेद-प्रधान

१८. प्रतीप अलंकार

इस शब्द की व्युत्पत्ति प्रति (आगे, पूर्व)+अप् (जल) से है, जिसमें अ 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' सूत्र से ई होकर प्रतीप बन जाता है। इसका अर्थ होता है—उलट कर, जलधारा के विरुद्ध, प्रकृत क्रम के विपरीत। इसी अर्थ के अनुसार जिस अलंकार में प्रसिद्ध उपमान उपमेय के स्थान पर उलट कर वर्णन किया जाता है, उसको प्रतीप अलंकार कहते हैं। प्रतीप का आधार साम्य ही है पर उपमेय तथा उपमान का क्रम उलट देने से इसका नया नामकरण इस प्रकार किया गया है। उपमा में उपमेय को उपमान के समान बतलाया जाता है पर प्रतीप में उपमान को उपमेय के सदृश कहा जाता है या उपमान को उपमेय के द्वारा तिरस्कृत, हीन बतलाया जाता है। इससे उपमेय की अधिकतर उत्कृष्टता ही दिखलाई जाती है। व्यतिरेक अलंकार में भी उपमेय की उत्कृष्टता प्रतिपादित की जाती है पर उपमेय तथा

उपमान का क्रम नहीं उलटा जाता और उपमेय की अधिकता उसके किसी गुण के वर्णन द्वारा स्थापित की जाती है। व्यतिरेक में साधर्म्य के साथ कुछ वैधर्म्य, असमानता भी रहती है पर प्रतीप में केवल शुद्ध साधर्म्य रहता है।

प्रतीप पाँच प्रकार का कहा जाता है—

१. प्रथम प्रतीप—जब प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पित कर वास्तविक उपमेय के समान वर्णित किया जाय। जैसे—

लोयन से अंबुज बने, मुख सो चंद्र बखानु ॥

नेत्रों की उपमा कमल से और मुख की चंद्रमा से दी जाती है पर यहाँ उलट कर उपमान कमल तथा चंद्रमा को उपमेय के समान कहा गया है।

२. द्वितीय प्रतीप—जब उपमान को उपमेय कल्पित कर उससे वास्तविक उपमेय अनादृत हो अर्थात् कुछ घटकर कहा जाय। जैसे—

गरब करति मुख को कहा चंदहि नीके जोइ ॥

यहाँ उपमेय मुख उपमान चंद्रमा से कुछ घटकर वर्णित है और इसीसे मुख के सौंदर्य का गर्व न करना कहा गया है।

३. तृतीय प्रतीप—जब उपमेय को उपमान कल्पित कर उससे वास्तविक उपमान अनादृत हो अर्थात् कुछ घटकर कहा जाय। जैसे—

तीछन नैन कटाच्छ तें मंद काम के बान ॥

यहाँ उपमेय कटाक्ष उपमान कल्पित किया गया है और वास्तविक उपमान काम के बाण अनादृत किए गए हैं।

४. चतुर्थ प्रतीप—जब स्पष्ट ही सत्य उपमान, उपमेय क्यों कल्पित कर उसके समान न कहा जाय। जैसे—

अति उत्तम दृग मीन से कहे कौन विधि जाहिं ॥

यहाँ उपमेय दृग को उपमान मानकर स्पष्ट ही कहा जा रहा है कि वह किस प्रकार वास्तविक उपमान मीन के समान कहा जाय।

५. पंचम प्रतीप—जब उपमान उपमेय के सामने व्यर्थ सा अर्थात् बहुत घटकर वर्णित हो। जैसे—

दृग आगे मृगनेत्र ये व्यर्थ काम के नाहिं।

यहाँ उपमान मृगनेत्र उपमेय दृग के आगे किसी काम का नहीं है अर्थात् व्यर्थ है। यद्यपि समता दी जाती है पर उसकी तुलना में व्यर्थ है।

१९. तुल्ययोगिता अलंकार

जहाँ अनेक प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों का, जिनमें औपम्य भी हो, एक धर्म से संबंध दिखलाया जाय वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है। धर्म से गुण तथा कार्य दोनों से तात्पर्य है। केवल प्रस्तुत होने या केवल अप्रस्तुत होने तथा उनमें गुण या क्रिया के कारण धर्मैकता होने से तुल्ययोगिता चार प्रकार की होती है।

१. प्रथम तुल्ययोगिता—जहाँ केवल कई उपमेयों (प्रस्तुतों) में एक धर्म का कथन हो। धर्मैकता गुण तथा क्रिया दोनों से होती है अतः दो उदाहरण दिए जाते हैं। गुण का उदाहरण—

उस उल्लासमयी नववयस्का के मुख, नेत्र, वाणी तथा विलासों की शोभा अलौकिक हो रही है।

उपमा
गया है इसमें मुख, नेत्र, वाणी तथा विलासों में, जो सभी प्रस्तुत हैं,
पर प्रतीप ...किक शोभा रूपी एक गुण की एकता है। क्रिया का उदाहरण—
उपमेय के द्वा ...ति सब मुनि मन माहीं। मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं॥
अधिकतर उद ...गुरु, रघुपति तथा सब मुनियों में मोद तथा पुलक होने की
उपमे ...कता ... । प्रसन्न तथा पुलकित होना क्रिया है।

२. द्वितीय तुल्ययोगिता—जहाँ केवल कई उपमानों (अप्रस्तुतों)

में एक धर्म (गुण तथा क्रिया) का कथन हो। गुण का उदाहरण—

तेरे शरीर की सुकुमारता देखकर किसे कमल, मालती तथा कदली के दल कठोर नहीं ज्ञात होते।

कमल, मालती तथा कदली दल तीनों उपमानों में कठोरता गुण की एकता है। क्रिया का उदाहरण—

धन को दान देकर, वाणी को सत्य बोलकर तथा शरीर को यश अर्जित कर सार्थक करे।

यहाँ कई अप्रस्तुत दान आदि कर्मभूत कार्यों में सार्थक करना एक क्रिया की धर्मैकता है।

हिंदी में तुल्ययोगिता के और भी भेद कहे गए हैं।

३. जब एक ही प्रस्तुत में अनेक अप्रस्तुतों के अच्छे गुण कहे जायँ। जैसे—

तुहीं सिरीनिधि, धर्मनिधि, तुहीं इंद्र अरु इंदु ॥

इसमें एक ही में श्रीनिधि (विष्णु, लक्ष्मीवान), धर्मनिधि (धर्मराज, धर्मात्मा), इंद्र (तेजस्वी) तथा इंदु (चंद्र, कांतिमान) के गुणों का एकत्र वर्णन किया गया है।

४. जहाँ एक ही धर्म द्वारा हित तथा अनहित दोनों ही का वर्णन किया जाय। जैसे—

गुननिधि नीकें देत तू तिय को अरि को हार।

यहाँ हार (आभूषण, पराजय) देना एक ही धर्म से हित (स्त्री) तथा अहित (शत्रु) दोनों का वर्णन किया गया है। एक धर्म स्थापित करने के लिए यह हार शब्द द्वयर्थक है पर यह आवश्यक नहीं है। जैसे,

'दास जू' पापी, सुरापी, तपी अरु जापी हितू अहितू सम भाई।
गंग तिहारी तरंगन सों सब पावैं पुरंदर की प्रभुताई ॥

यहाँ गंगा में अवगाहन करने से पापी (अहित) तथा पुण्यात्मा

(हित) सभी इंद्र की प्रभुता प्राप्त करते हैं। इंद्र की प्रभुता के दो अर्थ लगाने की इसमें आवश्यकता ही नहीं है।

२०. दीपक अलंकार

प्रस्तुत (वर्ण्य) तथा अप्रस्तुत (अवर्ण्य) वस्तुओं में जब एक धर्म का संबंध स्थापित करते हुए वर्णन हो तब दीपक अलंकार होता है। कुछ शास्त्रकारों का मत है कि इन प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में भी औपम्य होना चाहिए पर यह सर्वसम्मत नहीं है और वास्तव में आवश्यक भी नहीं है, जैसा कि इसके अन्य भेदों से स्पष्ट हो जायगा। इस अलंकार के दीपक कहलाने का यह कारण बतलाया गया है कि जिस प्रकार दीपक एक कार्य या वस्तु के लिए बाले जाने पर अन्य कार्य या वस्तु को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार इस अलंकार में एक प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त शब्द दूसरे के उपयोग में भी आ जाता है।

दीपक तथा तुल्ययोगिता में यह भेद है कि प्रथम में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों में एक साथ ही धर्मैकता का वर्णन होता है पर द्वितीय में केवल प्रस्तुतों या केवल अप्रस्तुतों में धर्मैकता का संबंध वर्णित होता है।

दीपक का उदाहरण—

गज मद सों नृप तेज सों सोभा लहत बनाइ।

इसमें प्रस्तुत या वर्ण्य राजा तथा अप्रस्तुत हाथी में शोभा पाना धर्म की एकता है।

दीपक के अंतर्गत उसीके कई अन्य भेद भी हैं पर इनमें वर्ण्य तथा अवर्ण्य दोनों की आवश्यकता नहीं होती।

१. कारक-दीपक—जहाँ एक से अधिक क्रियाओं का एक ही कारक होता है वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे सीताजी का हृदय रामचंद्र को देखकर प्रसन्न होता है पर धनुष को देखकर भयभीत हो कुम्हिला जाता है। यहाँ हृदय कर्ता रूप में प्रसन्न होता है तथा कुम्हिलाता है।

कुछ शास्त्रकारों का मत है कि कारक दीपक को अलग अलंकार मानना उचित नहीं है क्योंकि यह दीपक अलंकार के अंतर्गत ही आ जाता है। केवल कारक एक होने के कारण इस दीपक अलंकार को कारक दीपक कहते हैं। कारक दीपक के भी तीन भेद बतलाए जाते हैं। एक धर्म अर्थात् गुण या क्रिया के पद के आरंभ, मध्य तथा अंत में होने से ये तीन भेद होते हैं। पर इस प्रकार के भेद की कोई सार्थकता नहीं ज्ञात होती क्योंकि उस पद में धर्म-वाचक शब्द कहीं न कहीं आवेगा और उसके आदि, अंत में होने से कोई विशेष वैचित्र्य उत्पन्न नहीं होता। हिंदी में आदि तथा अंत में धर्म के पड़ने से कोई भेद नहीं माना गया है पर मध्य में पड़ने से उसे देहली दीपक कहते हैं।

२. देहली दीपक—जहाँ बीच में आया हुआ धर्मवाची शब्द दोनों ओर प्रयुक्त होता है, वहाँ देहली दीपक होता है। जैसे—

> है नरसिंह महा मनुजाद, हन्यो प्रहलाद को संकट भारी ॥

यहाँ हन्यो शब्द दोनों ओर लागू होता है। यदि कहा जाता कि नृसिंहजी ने महामनुजाद का तथा प्रह्लाद के संकट का नाश किया तो वह कारक दीपक होता पर मध्य में हन्यो शब्द के होने से यह देहली दीपक हुआ।

३. माला दीपक—जहाँ एक धर्म (गुण या क्रिया) कई प्रस्तुत-अप्रस्तुतों में शृंखला रूप में प्रयुक्त होता चला जाय वहाँ माला दीपक होता है। जैसे,

> जग की रुचि ब्रजबास ब्रज की रुचि ब्रजचंद हरि।
> हरि रुचि बंसी 'दास' बंसी रुचि मन बाँधिबो ॥

इसमें एक धर्म रुचि का जग, व्रज, हरि तथा बंसी सब में होना दिखलाया गया है इसलिए दीपक हुआ और चारों का एक दूसरे से शृंखलित होने के कारण माला दीपक कहलाया।

४. आवृत्ति दीपक—जिस दीपक अलंकार में एक धर्म क्रियापद की

आवृत्ति हो वहाँ यह अलंकार होता है। इसके तीन भेद कहे गए हैं—

अ. पदावृत्ति—जहाँ भिन्न अर्थ होते हुए उस पद की आवृत्ति हो। जैसे—

घन बरसै है री सखी निसि बरसै है देखि ॥

यहाँ 'बरसै है' की आवृत्ति दो भिन्न अर्थों में है। पहिले में बरसता है और दूसरे में बरस (वर्ष) ही है, दो अर्थ हैं। घन तथा निसि दोनों की क्रिया एक है।

आ. अर्थावृत्ति—जहाँ पर्यायवाची शब्दों की आवृत्ति हो और एक ही अर्थ में हो। जैसे—

फूलै वृक्ष कदंब के केतकि बिकसै आहि।

यहाँ फूलै तथा बिकसै पर्यायवाची हैं और इससे अर्थ की आवृत्ति है। कदंब तथा केतकी दोनों का क्रियापद एक है।

इ. पदार्थावृत्ति—जहाँ पद तथा अर्थ दोनों की आवृत्ति हो। जैसे—

मत्त भए हैं मोर अरु चातक मत्त सराहि।

यहाँ एक ही पद एक ही अर्थ में दुहराए गए हैं तथा मत्त हैं के कर्ता मोर तथा चातक दो हैं।

आवृत्ति दीपक के समान लाटानुप्रास तथा यमक में भी शब्दों की आवृत्ति होती है पर अंतिम दो कोरे शब्दालंकार हैं इसलिए उनमें अर्थ-वैचित्र्य नहीं होता और सभी शब्दों की आवृत्ति हो सकती है पर आवृत्ति दीपक में अर्थ-वैचित्र्य लेकर तथा केवल क्रियापदों की आवृत्ति होती है।

२१. प्रतिवस्तूपमा

जहाँ दो वाक्यों के अर्थों में सादृश्य प्रतीयमान हो और एक ही साधारण धर्म भिन्न भिन्न पर एकार्थी शब्दों द्वारा प्रकट किया जाय वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है। उपमा में सादृश्य वाच्य होता है

अर्थात् स्पष्ट रूप से कह दिया जाता है और प्रतिवस्तूपमा में वस्तुप्रतिवस्तुभाव द्वारा अलग अलग दो वाक्यों में उसकी प्रतीति करा दी जाती है। उपमा में समान आदि वाचक शब्द द्वारा सादृश्य प्रकट किया जाता है पर प्रतिवस्तूपमा में ऐसे शब्द होते ही नहीं। प्रतिवस्तूपमा में तीन बातें होनी आवश्यक हैं—१. दो वाक्यों का उपमेय तथा उपमान रूप में होना २. दोनों में एक ही धर्म का होना तथा ३. उस धर्म का भिन्न पर एकार्थी शब्दों द्वारा प्रकट किया जाना। अंतिम नियम पुनरुक्ति दोष को दूर करने के लिए ही आवश्यक कहा गया है। इस अलंकार का यह नामकरण इसलिए किया गया है कि (प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्याम्, कुवलयानंद) प्रतिवस्तु का प्रतिवाक्य के अर्थ में सादृश्य दिखलाया जाता है। एक ही धर्म को भिन्न शब्दों द्वारा अलग अलग निर्देश करना ही वस्तु-प्रतिवस्तु भाव कहलाता है अतः उपमा से भेद करने के लिए इस अलंकार का ऐसा नाम रखा गया है। जैसे शूरवीर सूर्य के समान शोभायमान है, यह उपमा का उदाहरण है पर यदि कहा जाय कि सूर्य की शोभा तेज से है और शूरवीर की उसके प्रताप से है, तब प्रतिवस्तूपमा हो जायगी। भाव दोनों का एक ही है पर उसके प्रकटीकरण में भिन्नता है। दूसरे उदाहरण में—

शूरवीर की शोभा उसके प्रताप से है	— उपमेय-वाक्य
सूर्य की शोभा उसके तेज से है	— उपमान-वाक्य
शोभा	— एक धर्म
तेज तथा प्रताप	— एकार्थी दो भिन्न शब्द

प्रतिवस्तूपमा में कहीं कहीं वैधर्म्य या विरोध या निषेधवाचक शब्दों द्वारा धर्मैकता प्रकट की जाती है पर ध्यान रखना चाहिए कि ये शब्द वास्तव में उसी साधर्म्य ही के परिपोषक होते हैं। जैसे,

मानवी में ऐसा रूप कैसे संभव हो सकता है ? पृथ्वी-तल से प्रभात की ज्योति नहीं उठती ।

यहाँ प्रथम वाक्य उपमेय रूप में है तथा दूसरा वाक्य उपमान रूप में है । असंभाव्यता समान धर्म है । प्रथम में 'कैसे संभव हो सकता है' अर्थात् असंभव है कहा गया है पर दूसरे में स्पष्ट रूप से 'नहीं उठती' कह दिया गया है । यद्यपि यह निषेधवाची है पर उसका भाव वही है जैसे यदि कहा जाता कि पृथ्वीतल से प्रभात की ज्योति का उठना कैसे संभव हो सकता है ? वास्तविक विरोध या वैधर्म्य होने पर यह अलंकार नहीं हो सकता ।

प्रतिवस्तूपमा अलंकार माला रूप में भी आता है और एक वाक्य तो उपमेय रूप में रहता है और अन्य कई वाक्य उपमान रूप में आते हैं, जिनमें से एक एक को उपमेय वाक्य के साथ लेने पर भी यह अलंकार पूर्णरूपेण चरितार्थ हो जाता है । जैसे—

सूर्य निर्मल है, चंद्रमा शुभ्र है, दर्पण स्वच्छ है तथा सज्जन भी शुद्ध हृदय हैं ।

इसमें अंतिम उपमेय वाक्य है तथा प्रथम तीन उपमान वाक्य हैं । शुद्धता समान धर्म है और निर्मल, शुभ्र, स्वच्छ तथा शुद्ध सभी भिन्न शब्द होते एक ही भावार्थ के हैं । इसलिए माला रूप में प्रतिवस्तूपमा अलंकार है ।

उदा०—बहत जु सर्पन को मलय, धरत जु काजर दीप ।
चंदहु भजत कलंक को, राखत खलन महीप ॥

२२. दृष्टांत

जहाँ साधारण धर्म सहित उपमेय-वाक्य तथा बिंब-प्रतिबिंब भाव से साधारण धर्म सहित उपमान-वाक्य दिए जायँ वहाँ दृष्टांत अलंकार होता है । इसमें दो वाक्य तो होते ही हैं और दोनों में पृथक् पृथक् धर्मों का उल्लेख भी होता है पर इन धर्मों में बिंबप्रतिबिंब भाव होने से

दोनों में समता सी जान पड़ती है यद्यपि वे वास्तव में एक होते नहीं। प्रतिवस्तूपमा में एक ही धर्म दोनों में पर्यायवाची भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। दृष्टांत में वास्तव में दूसरा उपमान-वाक्य एक प्रकार से उदाहरण रूप में उपमेय-वाक्य का निश्चय कराने के लिए दिया जाता है। दूसरा वाक्य प्रथम वाक्य के प्रतिबिंब अर्थात् छाया रूप में आकर उसकी वास्तविकता का समर्थन करता है। कई दृष्टांत वाक्य देकर माला सी भी कहीं कहीं बना दी जाती है।

कुछ लोग उदाहरण अलंकार को एक अलग अलंकार मानते हैं और दृष्टांत से उसका केवल यह भेद बतलाते हैं कि उदाहरण में ज्यों, जैसे आदि वाचक शब्द रहते हैं और दृष्टांत में नहीं रहते पर इतने भेद मात्र से दो अलंकार मान लेना विशेष समीचीन नहीं ज्ञात होता। जैसे—

जगत जनायो जेहि सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिए आँखि न देखी जाहिं॥

यह उदाहरण का उदाहरण है पर यदि इसे जरा बदल दिया जाय। जैसे—

जगत जनायो जेहि सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
आँखिन ही सब देखिए आँखि न देखी जाहिं॥

तब यह दृष्टांत का उदाहरण हो जाता है। इसमें पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उसका धर्म 'नहीं जानना' है। उत्तरार्द्ध उपमान-वाक्य है और धर्म 'नहीं देखना' है। दोनों धर्म भिन्न हैं पर बिंबप्रतिबिंब भाव से समता आ गई है और प्रथम का निश्चय दूसरा करा देता है।

अर्थांतरन्यास अलंकार तथा दृष्टांत मिलते जुलते से हैं पर दोनों में यह भेद है कि प्रथम में साधारण बात की विशेष बात से या विशेष की साधारण से पुष्टि कराई जाती है पर दृष्टांत में दोनों ही बातें समान होती हैं, दोनों में समता होती है। एक उदाहरण लीजिए—

टेढ़ जानि शंका सब काहू। वक्र चंद्रमा ग्रसै न राहू॥

इसमें साधारण बात पहिले कही गई है कि टेढ़े आदमी से सभी सशंकित (भीत) रहते हैं और इसकी पुष्टि इस विशेष बात से की गई है कि टेढ़े चंद्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता। न दोनों वाक्यों में धर्मैकता भिन्न पर्यायवाची शब्दों द्वारा दिखलाई गई है और न दोनों वाक्यों के भिन्न धर्मों में बिंबप्रतिबिंब भाव से कोई समता दिखलाकर एक का दूसरे से समर्थन कराया गया है प्रत्युत् एक विशिष्ट बात कहकर, जो हर प्रकार प्रत्यक्ष होने से मान्य है, साधारण बात को परिपुष्ट किया गया है।

दृष्टांत का उदाहरण—

निरखि रूप नँदलाल को दृगन रुचै नहिं आन।
तजि पियूष कोऊ करत कटु औषधि को पान॥

२३. उदाहरण अलंकार

जहाँ साधारणतः कही हुई बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण रूप में उसीके समान बात कही जाय वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। कवि को जो कहना है उस सामान्य अर्थ को प्रगट करने पर जहाँ ज्यों, सा, समान आदि के द्वारा अन्य विशेष समान बात उदाहरण रूप में दी जाय। यदि कहा जाय कि दुष्ट अपनी दुष्टता छोड़ भी दे तो लोगों को शंका होती है तो यह एक सामान्य बात हुई पर इसी के साथ यह भी कहा जाय कि जैसे चंद्रमा को कलंकहीन देखकर उत्पात की शंका होती है तो यह विशेष बात उदाहरण रूप में कही गई है। दोनों ही बातें समान हैं—दुष्टता-विहीन दुष्ट और कलंकहीन मयंक।

उदाहरण—

जगत जनायो जेहि सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिए आँखि न देखी जाहिं॥

२४. निदर्शना

जहाँ संभव होते या कभी कभी असंभव होते भी वस्तुओं का संबंध बिंब-प्रतिबिंब भाव का निदर्शन करे तो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। निदर्शन का अर्थ है निश्चय रूप से दिखलाना। इस अलंकार में दो या अधिक वस्तुओं में संबंध होना, जो संभव हो या असंभव हो और इस संबंध के द्वारा बिंब तथा प्रतिबिंब रूप में सादृश्य का होना आवश्यक है। इसमें प्रायः दो वाक्य होते हैं और दोनों के अर्थों में, साधारणतः विभिन्नता होते हुए भी, सादृश्यभाव आरोपित कर संबंध स्थापित किया जाता है। जैसे संभव का एक उदाहरण लिया जाय—

'कौन व्यर्थ संताप दै पावै है सुख चैन।
सूचित कै यहि सूर नित जात होत ही रैन॥'

इसमें संताप देनेवाला तथा सूर्य दो वस्तु हैं और तथ्य बात की सूचना देता हुआ सूर्य कहा गया है। इनमें दिन में तपकर रात्रि होते ही अस्त होना तथा व्यर्थ संताप देनेवाले का विपत्तिग्रस्त होना, इन दो बातों से सादृश्य भाव के संबंध का निदर्शन किया गया है, जो संबंध संभव है असंभव नहीं अतः यह निदर्शना संभव है। इसीका एक उदाहरण और लीजिए—

खोवत प्रान अजान जे करत क्रूर को संग।
यहै सिखावत छोड़ि तन दीपक-शिखा पतंग॥

यहाँ भी क्रूर का संग करनेवाला अज्ञानी तथा दीप-शिखा में जलनेवाला पतंग दो वस्तु हैं और कुसंग करने से प्राण खोना पड़ता है यह शिक्षा देता हुआ पतंग कहा गया है। क्रूर के साथ से प्राण खोना तथा पतंग का दीप-शिखा में जल मरना संबंध संभव होते सादृश्य सूचित करता है अतः यह निदर्शना है। इस संभव निदर्शना का सत् तथा असत् अर्थ प्रकट करने से दो भेद लोगों ने माना है पर ये भेद अत्यंत गौण हैं।

असंभव निदर्शना में संबंध संभव नहीं होता पर तब भी उनमें समता का भाव बिंब प्रतिबिंब रूप में आरोपित कर लिया जाता है। यह एक वाक्य में भी होता है और अनेक में भी। एकवाक्यगा का उदाहरण—

देखौ सहजै धरत ये खंजन-लीला नैन।

यहाँ नेत्र (के कटाक्ष विक्षेप) खंजन का लीला भाव सहज ही धारण करते हैं, ऐसा एक ही वाक्य में कहा गया है पर एक वस्तु का धर्म दूसरे में जाना संभव नहीं है अतः एक के धर्म का दूसरे में अर्थगत आरोप करते हुए सादृश्य संबंध दिखलाया गया है अर्थात् दोनों के सौंदर्य की समानता प्रकट की गई है। अब दो वाक्यों में इसी असंभव निदर्शना का एक उदाहरण लिया जाय। अनेकवाक्यगा—

'बिषयनि फँसिकै जनम ही दियो अकारथ खोय।
चिंतामनि कों काँच के मोल दियो सच सोय॥'

इसमें दो वाक्य हैं—विषयों में फँस कर जन्म व्यर्थ गँवाया तथा चिंतामणि को शीशे के मोल बेंच दिया। इन दोनों वाक्यों में संबंध संभव नहीं है पर दोनों के अर्थों में बिंबप्रतिबिंब भाव से इस प्रकार सादृश्य-संबंध आरोपित किया गया है कि विषयों में फँसकर जन्म गँवाना वैसा ही है जैसा चिंतामणि सी अलभ्य वस्तु को काच के मोल बेंच देना है।

जहाँ उपमेय का धर्म उपमान में होना संभव ही न हो पर उसका आरोप किया जाय वहाँ भी निदर्शना अलंकार होता है। जैसे, उसके अधर की मधुरता का आस्वाद अंगूर में मिलता है। इसमें अधर की मधुरता का अंगूर में मिलना संभव नहीं है पर तब भी पूर्ववत् सादृश्य का आरोप होता है।

निदर्शना भी माला रूप में होती है।

निदर्शना तथा दृष्टांत में यह भेद है कि प्रथम में वाक्य या वाक्यों

का अर्थ तब तक पूर्ण नहीं हो पाता जब तक बिंब-प्रतिबिंब भाव से साम्य आरोपित न किया जाय पर दृष्टांत में अर्थ पूरा बैठ जाने के बाद बिंबप्रतिबिंब भाव से साम्य ज्ञात होता है। निदर्शना में साम्य का आरोप इसलिए किया जाता है कि दो वस्तुओं में संबंध स्थापित हो और दृष्टांत में अर्थ पूरा होने पर साम्य की प्रतीति होती है। दृष्टांत में दो स्वतंत्र वाक्य बिंब तथा प्रतिबिंब रूप में होते हैं और निदर्शना में वर्ण्य-वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य के अर्थ से सामंजस्य मिलाने के लिए अन्य प्रकार से आरोपित किया जाता है।

कुछ शास्त्रकारों ने निदर्शना के भेदों के संभववस्तुसंबंधा तथा असंभववस्तुसंबंधा नाम दिए हैं और अंतिम के पदार्थवृत्ति तथा वाक्यार्थवृत्ति दो उपभेद किए हैं, जो ऊपर दिए गए एकवाक्यगा तथा अनेकवाक्यगा के ही अन्य नाम हैं। हिंदी में संभववस्तुसंबंधा के सत् तथा असत् अर्थ प्रकट करने से चौथी तथा पाँचवीं निदर्शना होती है। असंभववस्तुसंबंधा से प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय निदर्शनाएँ होती हैं।

ऊपर संभव के जो दो उदाहरण दिए गए हैं वे दोनों असत् कार्य के हैं अतः पाँचवीं निदर्शना के उदाहरण हैं। सत् का एक उदाहरण यों है—

उदय होत ही जगत को हरत तपनि दुख दंद।
सब ही को सुख दीजिए बढ़े बतावत चंद॥

यहाँ चौथी निदर्शना है। असंभव निदर्शना में अन्य तीन आ जाते हैं, जिनकी परिभाषा इस प्रकार की गई है, जो अति साधारण है। जैसे—

१. प्रथम निदर्शना—जो, सो, जे, ते, आदि शब्दों द्वारा असम वाक्यों को सम करना।

२. द्वितीय निदर्शना—उपमान के गुण उपमेय में स्थापित करना।

३. तृतीय निदर्शना—उपमेय के गुण उपमान में स्थापित करना।

२५. सहोक्ति

जब सह शब्द या उसके किसी पर्याय के कारण एक ही शब्द दो अर्थ दे तथा अतिशयोक्ति भी मूलतः हो तब सहोक्ति अलंकार होता है। जब एक ही शब्द एक बात से संबंध रखते हुए साधारण अर्थ दे तथा दूसरी बात के संबंध में एक अन्य अर्थ भी सह, संग, साथ आदि शब्दों के होने के कारण प्रगट करे तब उस उक्ति को सहोक्ति अलंकार कहते हैं पर तभी जब उसमें अतिशयोक्ति भी हो। राम लक्ष्मण तथा सीता के साथ वन गए। इसमें कोई अलंकार नहीं है क्योंकि राम कर्ता कारक में है और प्रधान है तथा लक्ष्मण और सीता अपादान कारक में हैं तथा गौण हैं। साथ ही इस वाक्य में कोई उक्ति-वैचित्र्य भी नहीं है। यहाँ साथ शब्द व्यक्तिवाचक शब्दों ही का संबंध बतलाता है घटनाओं का संबंध नहीं। तात्पर्य यह कि अतिशयोक्ति का होना नितांत आवश्यक है और अतिशयोक्ति अभेदाध्यवसाय मूलक होती है या कार्य-कारण के पौर्वापर्य विपर्यय से होती है। प्रथय श्लेष या बिना श्लेष के होती है। श्लिष्ट का उदाहरण—

यौवन में उसके ओष्ठ तथा प्रिय दोनों साथ ही रागयुक्त हो गए।

यहाँ राग शब्द का श्लेष से दो अर्थ लाल तथा अनुराग हुए और 'साथ' शब्द के कारण अभेदाध्यवसाय अतिशयोक्ति से युक्त ओष्ठ का लाल होना तथा प्रिय का अनुराग-युक्त होना सहोक्ति अलंकार है। ओष्ठ की लाली को प्रिय के अनुराग का कारण मानकर कार्य के साथ होना दिखलाने से कार्य-कारण का पौर्वापर्य-विपर्यय भी कहा गया है पर यह ठीक नहीं है। केवल ओष्ठ की लाली प्रेम का कारण नहीं हो सकती। अश्लिष्ट का उदाहरण—

चंद्रकिरणें कुमुद-समूह के साथ काम को उल्लसित करती हैं।

यहाँ उल्लसित करना कुमुदों के लिए खिलना तथा काम के लिए

बढ़ाना अर्थ देता है पर श्लेष से द्वयर्थक होने के कारण नहीं प्रत्युत् कुमुद तथा काम के संबंध से भिन्न अर्थ देता है, जिनके भाव प्रायः समान ही हैं। यहाँ भी अभेदाध्यवसाय अतिशयोक्ति होने से सहोक्ति अलंकार हुआ। पौर्वापर्य-विपर्यय का उदाहरण—

कीरति अरिकुल संगही जलनिधि पहुँची जाय।

यहाँ पराजित शत्रुओं के साथ साथ विजय-कीर्ति का पहुँचना अर्थात् शत्रुओं पर प्राप्त विजय की कीर्ति (कारण) तथा उनका समुद्र तक भागना (कार्य) का साथ होना दिखलाना कार्य-कारण का पौर्वापर्य-विपर्यय मूलक अतिशयोक्ति युक्त सहोक्ति है। इसमें अतिशयोक्ति ही प्रधान है अतः कुछ अलंकार शास्त्री इसे सहोक्ति नहीं मानते। सहोक्ति माला रूप में भी होती है।

२६. विनोक्ति

जब प्रस्तुत वस्तु किसी अन्य वस्तु के बिना अशोभन या नहीं अशोभन वर्णित किया जाय तब वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है। साथ ही ध्यान रखना चाहिए कि इस अलंकार में भी मूलतः उक्ति-वैचित्र्य होना चाहिए। जैसे यदि कहें कि बिना निमक के भोजन कैसा, तो इसमें विनोक्ति अलंकार नहीं है। परिभाषा में 'शोभन' न लिखकर 'अशोभन नहीं' लिखा गया है, यह सकारण है। यद्यपि तात्पर्य वही है, न अशोभन अर्थात् शोभन पर ऐसा लिखने का उद्देश्य यह है कि वह वस्तु प्रकृत्या शोभन है पर किसी अन्य वस्तु के सान्निध्य से अशोभन हो गया है तथा उस अन्य वस्तु के बिना वह पुनः अपनी प्रकृत शोभा में आ जाता है। इस प्रकार विनोक्ति के दो भेद हुए, जिन्हें प्रथम तथा द्वितीय विनोक्ति कह सकते हैं। प्रथम का उदाहरण—

दृग खंजन से कमल से बिनु अंजन सोभै न।

यहाँ नेत्र खंजन तथा कमल से सुंदर होते भी बिना अंजन के

अशोभन हो रहे हैं अर्थात् अंजन दे लेने पर वे अशोभन न रह जायँगे तथा उनकी शोभा बहुत बढ़ जायगी।

द्वितीय विनोक्ति का उदाहरण—

बाला सब गुन सरस तन रंच रुखाई है न।

तनिक भी रुखाई के न होने से यह बाला सर्वगुणसंपन्न तथा सुंदरी है। इसमें बाला स्वतः प्रकृत्या सर्वगुण तथा सौंदर्ययुक्त है पर यदि उसमें रुक्षता अर्थात् कठोरता भी होती तो वह अशोभन हो जाती इसलिए उसका अभाव दिखलाकर वह अशोभा दूर कर दी गई है। उसकी शोभा इस अभाव-वर्णन से बढ़ा दी गई है। 'विना' शब्द का स्पष्ट उल्लेख न होते भी 'है न' कहकर उसका भाव ला दिया गया है। इसी प्रकार सहोक्ति में सह आदि शब्दों के अभाव में भी उनका भाव आ जाना काफी है।

कभी कभी ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें दोनों वस्तु एक दूसरे के अभाव में अशोभन हो जाते हैं और इस कथन से अधिक चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। जैसे,

सुंदर नेत्र बिना अंजन के और अंजन बिना सुंदर नेत्र के शोभा नहीं पाते।

२७. व्यतिरेक

जहाँ उपमेय उपमान से बढ़कर या उपमेय से उपमान घटकर दिखलाया जाय वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। व्यतिरेक शब्द का अर्थ विभिन्नता है और इस कारण उपमेय तथा उपमान में विभिन्नता प्रकट करने के कारण यह नामकरण अत्यंत समीचीन है। इसके पहिले चार भेद किए गए हैं। उपमेय का आधिक्य दिखलाने में उपमेय की उत्कृष्टता तथा उपमान की हीनता दोनों के कारण जहाँ दिए गए हों वह उक्त व्यतिरेक का एक भेद होता है, जहाँ दो में से कोई एक दिया

गया हो वहाँ क्रम से दो भेद होते हैं और जहाँ एक भी न दिया हो वहाँ अनुक्ता भेद होता है। इस प्रकार चार भेद हुए।

उपमेय तथा उपमान का संबंध शब्दों द्वारा कहा गया हो या अर्थ से समझा जाय या आरोपित किया जाय। इस प्रकार प्रत्येक ऊपर कहे गए चारों भेद के तीन तीन उपभेद हुए। श्लेष तथा बिना श्लेष के होने से चौबीस उपभेद हो गए। अब उपमेय के आधिक्य तथा हीनता से इसके दूने अर्थात् अड़तालीस उपभेद हो जाएँगे। पर ये सब गौण हैं।

१. उदाहरण—'निष्कलंक मुख है नहीं पंकिल इंदु समान।'

कलंकरहित मुख कलंकयुक्त चंद्रमा के समान नहीं है। इसमें उपमेय की अधिकता तथा उपमान की हीनता दोनों कही गई है और समान शब्द के कारण उपमा स्पष्ट है अतः यह शाब्दी उक्ता व्यतिरेक है। यदि इनमें मुख तथा इंदु के विशेषण एक एक कर कम कर दिए जायँ तो अनुक्ता के प्रथम दो भेद हो जायँगे और यदि दोनों हटा दिए जायँ तो तीसरा भेद हो जायगा।

२. उदाहरण—मुख है अंबुज सों सखी मीठी बात विशेष।

यहाँ उपमेय मुख की उपमान कमल से केवल अधिकता दिखलाई गई है और 'सों' शब्द से उपमेय-उपमान भाव स्पष्ट शब्द द्वारा कहा गया है अतः अनुक्ता व्यतिरेक का एक भेद हुआ।

३. उदाहरण—जिनके यश प्रताप के आगे।
सति मलीन रवि सीतल लागे॥

इसमें उपमान शशि तथा रवि की हीनता दिखलाई गई है और उपमेयोपमान भाव अर्थ बल से लिया गया है।

४. उदा०—मुख की समता क्या करे चंद्र बापुरो रंक।

इसमें उपमेय की अधिकता और उपमान की हीनता का कोई कारण नहीं दिया है।

घ. गम्यप्रधान

२८. अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार

जहाँ अप्रस्तुत का इस प्रकार वर्णन किया जाय कि प्रस्तुत स्पष्टतः लक्षित हो जाय तब वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा कही जाती है। जिसका वर्णन प्रधानतः अभीष्ट है या जिसका प्रकरणगत प्रसंग है वही प्रस्तुत या प्राकरणिक है और जिसका वर्णन अप्रधान रूप से हो या प्रसंग न हो वह अप्रस्तुत या अप्राकरणिक है। अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का बोध संबंध द्वारा ही होता है और यह तीन प्रकार सामान्य-विशेष, कार्य-कारण तथा सारूप्य से होता है। अतः पाँच भेद पाँच प्रकार के कथन के अनुसार होते हैं, जो नीचे दिये जाते हैं।

१. सामान्य-निबंधना—जब सामान्य अप्रस्तुत के वर्णन से विशेष प्रस्तुत की बात स्पष्ट की जाय। जैसे,

सीख न मानै गुरुन की अहितहि हित मन मानि।
सो पछितावै तासु फल ललन भए हित हानि॥

यहाँ कोई किसी प्रस्तुत को समझा रहा है पर विशेष रूप से उसे ही न कहकर सामान्य साधारण बात कहता है कि जो बुरे को भला मानते हुए गुरुजन की शिक्षा नहीं ग्रहण करता वह अहित होने पर पछताता है। यद्यपि साधारणतः यह नीति सभी के लिए है पर यहाँ यह स्पष्ट ही प्रस्तुत 'ललन' के लिए ही विशेष रूप से कहा गया है।

२. विशेष-निबंधना—जब विशेष अप्रस्तुत के कथन से सामान्य प्रस्तुत सूचित हो। जैसे,

लालन सुरतरु धनद हू अनहितकारी होय।
तिनहू को आदर न है यों मानत बुध लोय॥

यहाँ विशेष बात यह कही गई है कि कल्पवृक्ष (इच्छित फल

देनेवाला) तथा कुबेर (धन के देवता) भी यदि अहितू हों तो उनका भी आदर नहीं होता तब यदि तुम (प्रस्तुत लालन) साधारण पुरुष होकर वैसा करोगे तो न जाने क्या होगा।

३. हेतु-निबंधना—जब अप्रस्तुत कारण के कथन द्वारा प्रस्तुत कार्य का सूचन हो। जैसे,

लीन्ह्यो राधा-मुख रचन बिधि लै सार तमाम।
तेहि मग होय अकास यह ससि मैं दीसत स्याम॥

यहाँ राधिकाजी के चंद्रमुख की उत्कृष्टता वर्णन अभीष्ट है, जो कार्य है पर उसका कथन न कर उत्कृष्टता का कारण चंद्रमा का तत्व ही निकाल लेना कहा गया है।

४. कार्य-निबंधना—जब अप्रस्तुत कार्य का वर्णन कर प्रस्तुत इष्ट कारण का बोध कराया जाय। जैसे,

अरि-तिय भिल्लिनि सों कहैं घन बन जाय इकंत।
सिव सरजा सों बैर नहिं सुखी तिहारे कंत॥

यहाँ इष्ट कथन यह है कि शिवाजी से वैर करना दुःखों का मूल है पर यह कारण न कहकर अप्रस्तुत कार्य का वर्णन किया जाता है कि वैर करने या न करने से क्या फल होता है। शत्रु-स्त्रियाँ भिल्लिनियों से घोर वन के एकांत में कहती हैं कि वैर न करने से तुम्हारे पति सुखी हैं और हम लोग वैर करने से इस प्रकार गृहत्यागी हुए हैं। कार्य-कथन द्वारा इष्ट कारण स्पष्ट किया गया है।

५. सारूप्य-निबंधना—जहाँ समान अप्रस्तुत वस्तु के वर्णन द्वारा वैसी ही प्रस्तुत वस्तु लक्षित कराई जाय। यह शुद्ध साम्य द्वारा या श्लेष द्वारा स्पष्ट की जाती है। श्लेष विशेषण या विशेष्य दोनों में होता है। जैसे—

बक धरि धीरज कपट तजि जो बनि रहै मराल।
उघरै अंत गुलाब कवि अपनी बोलनि चाल॥

यहाँ अप्रस्तुत बक का वर्णन किया गया है पर साम्य द्वारा प्रस्तुत मूर्ख का वर्णन है कि वह विद्वान का स्वाँग धारण भले ही कर ले पर शीघ्र ही बोलचाल से उसकी मूर्खता प्रगट हो जायगी। यह शुद्ध साम्य का उदाहरण है।

सदामोद युत श्रीसहित उत्कलिका के भार।
नमि उज्वल रुचि योग से सोहत है सहकार॥

यहाँ सहकार (आम) अप्रस्तुत है और अनुरागी नायक प्रस्तुत है। श्लेष से सभी विशेषण दोनों पक्ष में अर्थ देते हैं। सदा+मोद (आनंद) या आमोद (सुगंधि), श्री से शोभा, उत्कलिका (कली या उत्कंठिता) और रुचि (कांति या इच्छा)। यह श्लेषमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा है।

२९. अर्थांतरन्यास अलंकार

जब सामान्य या विशेष बात का साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा क्रम से विशेष या सामान्य बात से समर्थन किया जाय तब वहाँ अर्थांतरन्यास अलंकार होता है। इस प्रकार इसके चार भेद हुए। कुछ आलंकारिक कार्य या कारण का कारण या कार्य से समर्थन किए जाने पर भी यही अलंकार मानते हैं और इस पर जो तर्क वितर्क किया गया है वह अत्यंत शिथिल है। कार्य-कारण का संबंध विशिष्ट है, जो अर्थांतरन्यास की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आ सकता और उसके लिए एक अलग अलंकार ही काव्यलिंग है।

अर्थांतर का अर्थ अर्थ की भिन्नता, अन्य अर्थ तथा उलटा अर्थ होता है और न्यास का अर्थ स्थिति, देना, त्यागना है।

१—सामान्य का विशेष से साधर्म्य द्वारा—उदा०

पाइ सहाय बड़ेन की सफल लघुहु है जाइ।
महानदिन मिलि छुद्र हू सागर पहुँचैं धाइ॥

बड़ों की सहायता पाकर छोटे भी सफल हो जाते हैं, इस साधारण बात का साधर्म्य द्वारा समर्थन इस प्रकार किया गया है कि छोटी छोटी नदियाँ समुद्र तक न पहुँच सकतीं यदि वे महानदियों की सहायता न पातीं।

२. सामान्य का विशेष से वैधर्म्य द्वारा—उदा०

दुर्जन दाबे ही दबैं नहीं किए उपकार।
बर पाए राजहु मिले नहुष कीन अपकार॥

यहाँ साधारण बात यह है कि दुष्ट उपकार करने से नहीं प्रत्युत दमन करने से दबता है और विशेष यह है कि वर तथा राज्य मिलने अर्थात् उपकार करने पर भी नहुष राजा ने लोगों का अपकार किया क्योंकि वह दुष्ट था।

३. विशेष का सामान्य से साधर्म्य द्वारा—उदा०

हरि-प्रताप, गोकुल बच्यो, का नहिं करहिं महान।

यहाँ श्रीकृष्ण के प्रताप से गोकुल का बचना विशेष बात का सामान्य 'बड़े क्या नहीं कर सकते' से साधर्म्य द्वारा समर्थन कराया गया है।

४. विशेष का सामान्य से वैधर्म्य द्वारा—उदा०

अंजनि सुत हनुमंत को गिरिधर कहै न कोय।
थोरो किए बड़ेन की बड़ी बड़ाई होय॥

यहाँ विशेष बात यह है कि हनुमान को गिरिधर कोई नहीं कहता और इसका समर्थन वैधर्म्य द्वारा इस प्रकार किया गया है कि बड़े लोग थोड़ा सा काम कर देते हैं तो बड़ी प्रशंसा की जाती है अर्थात् उससे बड़ा काम भी छोटे लोग करें तो उनकी प्रशंसा उस प्रकार नहीं की जाती। श्रीकृष्णजी एक छोटी पहाड़ी उठाने के कारण गिरिधर कहे जाने लगे पर हनुमानजी को वह पदवी नहीं दी गई।

अर्थांतरन्यास तथा दृष्टांत में यह भिन्नता है कि प्रथम में सामान्य का विशेष द्वारा और विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है

तथा द्वितीय में सामान्य का सामान्य से और विशेष का विशेष से उदाहरणवत् समर्थन किया जाता है। इसमें ज्यों, जैसे वाचक शब्द भी रहते हैं। अर्थांतरन्यास में दोनों ही प्रस्तुत होते हैं पर अप्रस्तुत प्रशंसा में एक का प्रस्तुत तथा दूसरे का अप्रस्तुत होना आवश्यक है और अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का बोध कराया जाता है।

३०. विकस्वर अलंकार

जहाँ विशेष बात का पहिले सामान्य द्वारा और फिर विशेष द्वारा समर्थन कराया जाय वहाँ विकस्वर अलंकार होता है। जैसे,

हरि गिरि धारयौ, सत्पुरुष भार सह्यौ ज्यों सेष ॥

यहाँ श्रीकृष्ण ने पर्वत धारण किया, इस विशेष बात का इस सामान्य कथन से पहिले समर्थन किया गया कि सत्पुरुष कष्टसहिष्णु होते हैं और पुनः इसका समर्थन इस विशेष बात द्वारा किया गया कि जिस प्रकार शेष नाग भार सहन करते हैं।

इसके दो भेद किए गए हैं। प्रथम जहाँ द्वितीय समर्थन उपमान रूप में होता है, जैसा ऊपर के उदाहरण में है।

द्वितीय—जहाँ द्वितीय समर्थन अर्थांतरन्यास ही के रूप में होता है, जैसे—

'सिंधु बाँधि रावन हत्यो, का नहिं करहिं समत्थ।
गोपन हित गोपालहू गिरि धारयो निज हत्थ ॥'

रामचंद्र ने समुद्र पर पुल बाँध रावण को मारा, यह विशेष बात हुई। समर्थ पुरुष क्या नहीं करता इस सामान्य बात से प्रथम का समर्थन हुआ। अब पुनः गोपों के लिए गोपाल ने पहाड़ को अपने हाथ पर उठा लिया, इस विशेष द्वारा उसका समर्थन कराया गया। इसमें दूसरी विशेष बात उपमान रूप में नहीं कही गई है प्रत्युत अर्थांतरन्यास रूप में।

अधिकतर साहित्यशास्त्री इसे अलग अलंकार नहीं मानते। या तो

इसमें दो अर्थांतरन्यास की या अर्थांतरन्यास तथा उपमा की संसृष्टि मानी जायगी।

३१. प्रस्तुतांकुर अलंकार

जहाँ एक प्रस्तुत के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत का वर्णन भी होता हो वहाँ यह अलंकार होता है। इसमें दोनों ही प्रस्तुत होते हैं और एक से दूसरा अंकुरित होता है इसीसे ऐसा नामकरण हुआ है। प्रायः ऐसा होता है कि कोई अलंकृत वाक्य कहा एक से जाता है पर दूसरे को सुनाकर और वैसी अवस्था में दोनों अपने पर घटाकर अपना अपना भाव समझ लेते हैं। जैसे—

कहाँ गयो अलि केवरे छाँड़ि सुकोमल जाइ।

यहाँ स्पष्ट वर्णन है कि हे भ्रमर, कोमल जूही को छोड़कर तू कंटकाकीर्ण केवड़े पर कहाँ चला गया है। पर तात्पर्य यह भी है कि हे पुरुष, तू वैसी कोमल नायिका को छोड़कर उस कुटिला सुंदरी के पास कहाँ गया है। या यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि भक्ति को छोड़कर माया मोह में क्यों फँसा है?

एक और उदाहरण—

सीत बात आतप सह्यो राखि तेरियै आस।
तऊ पपीहा की जलद तैं न बुझाई प्यास॥

इसमें स्पष्टतः पपीहा की ओर से जलद को कोई उपालंभ दे रहा है कि उसने तुम्हारी ही आशा में शीत, वायु तथा गर्मी सभी सहा पर तुमने उसकी प्यास न बुझाई। परंतु साथ ही दूसरे सुननेवाले को भी उपालंभ मिल रहा है कि जिसने तुम्हारे लिए सब कष्ट झेलकर आशा लगाई थी उसे तुमने पूरा नहीं किया।

अप्रस्तुत प्रशंसा से इसमें बहुत साधारण तथा सूक्ष्म भेद है। प्रथम में अप्रस्तुत का वर्णन तथा प्रस्तुत का तात्पर्य समबल का होता है पर

इसमें मुख्य द्वितीय प्रस्तुत के प्रति भाव प्रकट करना होता है और साथ ही प्रथम पर भी भाव प्रस्तुत के समान ही घटना चाहिए।

इस अलंकार तथा गूढ़ोक्ति में थोड़ा ही भेद है। गूढ़ोक्ति में दूसरा सुननेवाला उस उक्ति से लाभ उठाता ही है पर प्रस्तुतांकुर में इसका आग्रह स्पष्ट नहीं रहता।

३२. पर्यायोक्ति अलंकार

जो बात कहना अभीष्ट है उसीको स्पष्ट सीधे न कहकर प्रकारांतर से अन्य रूप से, अभिधा द्वारा प्रकट किया जाय तो वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है। पर्याय शब्द का अर्थ प्रकार, क्रम, समानार्थी अन्य शब्द आदि हैं अतः जब एक उक्ति जिस प्रकार साधारणतः कही जाती है, वैसे ही न कहकर अन्य प्रकार से कही जाय तो उसीको पर्यायोक्ति कहते हैं। इसमें प्रधानतः जो बात व्यंग्य रूप में कहना होता है उसे ही दूसरी प्रकार से वाच्य द्वारा कहा जाता है पर कुछ लोग व्यंग्य का होना आवश्यक नहीं समझते। परंतु अलंकार में चमत्कार होना आवश्यक है अतः साधारण हेरफेर से यह अलंकार प्रस्फुटित नहीं होता। हिंदी में पर्यायोक्ति दो प्रकार की होती है, एक तो ऊपर कही गई है और दूसरी वह है जहाँ बहाने से अभीष्ट कार्य सम्पन्न किया जाय। इसमें भी उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार होने ही पर अलंकार होगा। जैसे 'दवा पीने के भय से बालक ने सोने का बहाना किया' इसमें पर्यायोक्ति ढूँढ़ निकालना अनर्गल है।

प्रथम पर्यायोक्ति का उदाहरण—

महाराज सिवराज तेरे बैर देखियतु
घन बन ह्वै रहे हरम हबसीन के।

यहाँ कहा गया है कि हे शिवाजी महाराज तुमसे बैर करने के कारण हब्शियों की स्त्रियाँ घोर जंगल में बसी हैं पर ऐसा होने का

इसमें दो अर्थांतरन्यास की या अर्थांतरन्यास तथा उपमा की संसृष्टि मानी जायगी।

३१. प्रस्तुतांकुर अलंकार

जहाँ एक प्रस्तुत के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत का वर्णन भी होता हो वहाँ यह अलंकार होता है। इसमें दोनों ही प्रस्तुत होते हैं और एक से दूसरा अंकुरित होता है इसीसे ऐसा नामकरण हुआ है। प्रायः ऐसा होता है कि कोई अलंकृत वाक्य कहा एक से जाता है पर दूसरे को सुनाकर और वैसी अवस्था में दोनों अपने पर घटाकर अपना अपना भाव समझ लेते हैं। जैसे—

कहाँ गयो अलि केवरे छाँड़ि सुकोमल जाइ।

यहाँ स्पष्ट वर्णन है कि हे भ्रमर, कोमल जूही को छोड़कर तू कंटकाकीर्ण केवड़े पर कहाँ चला गया है। पर तात्पर्य यह भी है कि हे पुरुष, तू वैसी कोमल नायिका को छोड़कर उस कुटिला सुंदरी के पास कहाँ गया है। या यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि भक्ति को छोड़कर माया मोह में क्यों फँसा है?

एक और उदाहरण—

सीत बात आतप सह्यो राखि तेरियै आस।
तऊ पपीहा की जलद तैं न बुझाई प्यास॥

इसमें स्पष्टतः पपीहा की ओर से जलद को कोई उपालंभ दे रहा है कि उसने तुम्हारी ही आशा में शीत, वायु तथा गर्मी सभी सहा पर तुमने उसकी प्यास न बुझाई। परंतु साथ ही दूसरे सुननेवाले को भी उपालंभ मिल रहा है कि जिसने तुम्हारे लिए सब कष्ट झेलकर आशा लगाई थी उसे तुमने पूरा नहीं किया।

अप्रस्तुत प्रशंसा से इसमें बहुत साधारण तथा सूक्ष्म भेद है। प्रथम में अप्रस्तुत का वर्णन तथा प्रस्तुत का तात्पर्य समबल का होता है पर

इसमें मुख्य द्वितीय प्रस्तुत के प्रति भाव प्रकट करना होता है और साथ ही प्रथम पर भी भाव प्रस्तुत के समान ही घटना चाहिए।

इस अलंकार तथा गूढ़ोक्ति में थोड़ा ही भेद है। गूढ़ोक्ति में दूसरा सुननेवाला उस उक्ति से लाभ उठाता ही है पर प्रस्तुतांकुर में इसका आग्रह स्पष्ट नहीं रहता।

३२. पर्यायोक्ति अलंकार

जो बात कहना अभीष्ट है उसीको स्पष्ट सीधे न कहकर प्रकारांतर से अन्य रूप से, अभिधा द्वारा प्रकट किया जाय तो वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है। पर्याय शब्द का अर्थ प्रकार, क्रम, समानार्थी अन्य शब्द आदि हैं अतः जब एक उक्ति जिस प्रकार साधारणतः कही जाती है, वैसे ही न कहकर अन्य प्रकार से कही जाय तो उसीको पर्यायोक्ति कहते हैं। इसमें प्रधानतः जो बात व्यंग्य रूप में कहना होता है उसे ही दूसरी प्रकार से वाच्य द्वारा कहा जाता है पर कुछ लोग व्यंग्य का होना आवश्यक नहीं समझते। परंतु अलंकार में चमत्कार होना आवश्यक है अतः साधारण हेरफेर से यह अलंकार प्रस्फुटित नहीं होता। हिंदी में पर्यायोक्ति दो प्रकार की होती है, एक तो ऊपर कही गई है और दूसरी वह है जहाँ बहाने से अभीष्ट कार्य सम्पन्न किया जाय। इसमें भी उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार होने ही पर अलंकार होगा। जैसे 'दवा पीने के भय से बालक ने सोने का बहाना किया' इसमें पर्यायोक्ति ढूँढ़ निकालना अनर्गल है।

प्रथम पर्यायोक्ति का उदाहरण—

महाराज सिवराज तेरे बैर देखियतु
घन बन है रहे हरम हबसीन के।

यहाँ कहा गया है कि हे शिवाजी महाराज तुमसे बैर करने के कारण हब्शियों की स्त्रियाँ घोर जंगल में बसी हैं पर ऐसा होने का

कारण हब्शियों का शिवाजी से परास्त होना है, जो कथन वास्तव में अभीष्ट था। यह अभीष्ट कारण न कहकर उसके फलस्वरूप कार्य का कथन कर उसे स्पष्ट किया गया है। शंका उठ सकती है कि कार्य-कारण कथन द्वारा यह अप्रस्तुत प्रशंसा भी हो सकता है पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पर्यायोक्ति में दोनों ही प्रस्तुत होते हैं और अप्रस्तुत प्रशंसा में एक प्रस्तुत तथा दूसरा अप्रस्तुत। हब्शियों का पराजय तथा उसके फलरूप हब्शिनियों का जंगलों में भागना दोनों ही प्रस्तुत हैं और कारण के बदले कार्य कथन में विशेष चमत्कार है अतः वही कहा गया है। ऐसे ही चमत्कारपूर्ण कारण के कथन द्वारा कार्य भी कहा जा सकता है पर दोनों ही का प्रस्तुत होना आवश्यक है।

द्वितीय पर्यायोक्ति का उदाहरण—

तुम दोऊ बैठो यहाँ जात अन्हावन ताल।

एकांत में दोनों को बातचीत करने का अवसर देने के लिए वह तालाब पर स्नान करने जाने को कहकर वहाँ से हट गई। यहाँ अभीष्ट तो यही कहना था कि हमारे रहने से तुम दोनों को बातचीत करने में संकोच होगा इसलिए हम जाते हैं पर उसी बात को दूसरे रूप में एक बहाने से कहा गया है अतः पर्यायोक्ति ही है। यह बहाना तभी है जब वह वास्तव में स्नान करने न गई हो और यदि वह वास्तव में स्नान करने चली गई तो वह बहाना नहीं रह जाता। अतः बहाना इस अलंकार में आवश्यक नहीं है।

३२. व्याजस्तुति तथा व्याजनिंदा अलंकार

जहाँ स्तुति या निंदा करने पर उसके विपरीत क्रमशः निंदा या स्तुति समझी जाय वहाँ यह अलंकार होता है। व्याज से निंदा की जाने पर उसे स्तुति समझना तो व्याजस्तुति ठीक है पर व्याज से की गई स्तुति को निंदा समझना तो व्याजनिंदा कहलायगी। इसी से हिंदी

में दो अलंकार व्याजस्तुति तथा व्याजनिंदा मानी गई हैं पर संस्कृत में (व्यजिनस्तुतिः तथा व्याजरूपा स्तुतिः) एक ही शब्द दो प्रकार से अर्थ कर लेने पर दोनों के लिए नामांकित कर लिया गया है। हिंदी में भी भूषण आदि कई आचार्यों ने संस्कृत के समान एक ही अलंकार माना है।

हिंदी में दोनों अलंकारों के एक एक भेद इस प्रकार और किए गए हैं कि जहाँ एक की स्तुति या निंदा से दूसरे की स्तुति या निंदा प्रकट हो तो वहाँ भी व्याजस्तुति या व्याजनिंदा ही होती है पर संस्कृत के कुछ आचार्य ऐसा न मानकर उसे व्यंग्यकाव्य कहते हैं।

प्रथम व्याजस्तुति का उदाहरण—

स्वर्ग चढ़ाए पतित लै गंग कहा कहुँ तोहि ॥

यहाँ पहिले पढ़ने में निंदा ज्ञात होती है कि पापियों को भी तुमने स्वर्ग से पवित्र स्थान में पहुँचा दिया पर वास्तव में गंगाजी की पाप-मोचनी शक्ति की स्तुति है।

द्वितीय व्याजस्तुति का उदाहरण—

जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कौन भलाई ॥

यहाँ एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति प्रकट होती है। जिसके दूत की शक्ति वर्णन के बाहर है तब जब वह स्वयं आवेगा तो क्या होगा?

प्रथम व्याजनिंदा का उदाहरण—

नाक कान बिनु भगिनि निहारी। क्षमा कीन्ह, तुम धर्म बिचारी ॥

यहाँ प्रकट में स्तुति की गई है कि जिसने तुम्हारे बहिन की नाक कान काट लिया है उसे तुमने धर्म समझकर क्षमा कर दिया है पर वास्तव में उसकी निंदा ही है कि तुम कायर हो।

द्वितीय व्याजनिंदा का उदाहरण—

सदा छीन कीन्ह्यो न क्यों चंद, मंद है सोइ।

यहाँ विरहिणी चंद को सदा क्षीण न बनाने के कारण स्रष्टा को मंद कहती है पर तात्पर्य चंद्र ही की निंदा करने से है, जो तापकारक है।

३४. आक्षेप अलंकार

आक्षेप शब्द के कई अर्थ हैं—अपवाद, कटूक्ति, व्यंग्य आदि। आङ्+क्षिप व्युत्पत्ति से मूलतः इसका अर्थ फेंकना है अर्थात् अपने पास की वस्तु को दूर डाल देना। ईप्सित या इष्ट बात का इस अलंकार में पहिले निषेध किया जाता है अर्थात् दूर किया जाता है और इसी चमत्कार की प्रमुखता होने से इसका आक्षेप नामकरण किया गया है। इसके तीन भेद हैं—उक्ताक्षेप, व्यक्ताक्षेप तथा निषेधाक्षेप।

उक्ताक्षेप—

जहाँ कही हुई या कही जानेवाली इष्ट बात का उक्ति-वैचित्र्य के साथ इस प्रकार निषेध सा किया जाय जिससे कोई अर्थ-गर्भित तात्पर्य निकले तब वहाँ उक्ताक्षेप अलंकार होता है। इसके चार तत्व हैं—इष्ट कथन, निषेध, निषेध की अवास्तविकता तथा विशिष्ट तात्पर्य। यदि निषेध वास्तविक हो तो वहाँ यह अलंकार नहीं होगा। इस प्रकार उक्ताक्षेप के दो भेद हुए, एक जिसमें इष्ट बात कही जा चुकी हो और दूसरी जिसमें कही जानेवाली हो। इन दोनों के भी दो दो विभेद हैं। अब एक एक का उदाहरण दिया जाता है—

१. क. जहाँ कही हुई इष्ट बात के स्वरूप ही का निषेध सा किया जाय। जैसे—

दससुख मैं न बसीठी आयौ। अस बिचारि रघुबीर पठायौ।

यहाँ अंगद दूत के रूप में ही आकर अपने दूतत्व का निषेध करता है, जो वास्तविक नहीं है, आभासमात्र है क्योंकि वह इष्ट बातें कहकर वैसा करता है। यह विशिष्ट तात्पर्य-गर्भित निषेधाभास है। उसका तात्पर्य है कि रामचंद्र ने किसी भय से संधि-प्रस्ताव के लिए नहीं भेजा है प्रत्युत् तुम पर दया करके।

ख. जहाँ कही हुई इष्ट बात का निषेध सा किया जाय। जैसे,

'कैसे काटेगी निसा विरह व्यथा में बाल।
कठिन हृदय हौ आपसों कहनो बृथा हवाल॥'

इसमें सखी पहिले नायक से इष्ट बात रात्रि में रहने की कहती है, जो जाना चाहता है पर कहने के अनंतर उसका निषेध सा करती है कि आपसे यह कहना व्यर्थ ही है क्योंकि आप कठोरहृदय हैं। उसका तात्पर्य यही है कि इस प्रकार आक्षेप करने से स्यात् वह न जाय। इससे सखी के कष्ट की अधिकता भी ज्ञात होती है। यह उक्त विषय आक्षेप के वस्तु-कथन का निषेध सा है।

२. क. जहाँ वक्ष्यमाण या कही जानेवाली कुल इष्ट बात का निषेध सा किया जाय। जैसे,

'बिरह-बिथा हौं कहौंगी सबै तुम्है समझाय।
पै कहिबो तोहि निठुर सों उचित न मोहिं जनाय॥'

यहाँ विरह-कातरा सखी की पीड़ा कहना इष्ट है पर उसका संपूर्ण रूप में निषेध है। यह निषेध का आभास मात्र है क्योंकि विरह-व्यथा की सूचना इतना ही कहकर सामान्य रूप से दे दी गई है। आंतरिक तात्पर्य भी इस निषेध का यह है कि तुमसे निष्ठुर हृदय पर उस कथा-श्रवण का क्या असर होगा अर्थात् इस कटूक्ति से अधिक प्रभाव पड़ने की संभावना है।

ख. जहाँ कुछ अंश कहकर बाकी अंश का निषेध सा किया जाय। जैसे—

'तू है दूजो हियो, अहै तू मेरो जीवन
सुधा अंग हित है, पुनि है कौमुदि मम नैनन।
करि प्रसन्न मुग्धहिं ऐसे बहु प्रिय बचनन सों
ताही को, वा का फल अब आगे बरनन को॥'

यहाँ वासंती रामचंद्र से सीताजी के त्याग देने पर आक्षेप करती है कि जिसे इस प्रकार कहकर अनुरक्त बनाया उसीको त्याग दिया पर कारुण्य से त्याग दिया न कह सकने पर निषेध सा करती हुई कहती है कि इसके आगे कहने से लाभ ही क्या है ? इष्ट बात कुछ कह दी और कुछ का निषेध भी किया पर अवास्तविक रूप में। साथ ही इसमें कठोर आक्षेप भी था कि ऐसी प्रिय वस्तु को तुम त्याग देनेवाले हो तब तुमसे कुछ कहना भी वृथा है।

व्यक्ताक्षेप—

एक प्रकार का आक्षेप अलंकार वहाँ भी होता है जहाँ अनिष्ट कही हुई बात की इस प्रकार अनुज्ञा दी जाय, जो वास्तविक न हो तथा जिसके अनिष्ट होने का आभास स्पष्ट ज्ञात हो जाय। इसके भी चार तत्व हैं—१. अनिष्ट बात २. उनकी स्वीकृति या अनुज्ञा ३. स्वीकृति या अनुज्ञा की अवास्तविकता तथा ४. विशिष्ट तात्पर्य। इसमें निषेध के स्थान पर विधि से काम लिया जाता है। इसे व्यक्ताक्षेप कहते हैं। उदाहरण—

सुख सों पीय सिधारिये पग पग होय कल्यान।
हौं हू जनमौंगी तहाँ तुव जेहि देस पयान॥

यहाँ प्रिय का विदेशगमन अनिष्ट है पर उसको जाने की अनुज्ञा दे दी जाती है पर यह वास्तविक नहीं है, हृदय से नहीं दी गई है क्योंकि आगे ही कहती है कि 'तुम्हारे विरह में मरकर मैं उसी देश में जन्म लूँगी जहाँ तुम जा रहे हो। अर्थात् यदि तुम जाओगे तो मैं मर जाऊँगी अतः मत जाओ। विशिष्ट तात्पर्य यही है कि हमें मृत्यु-मुख में डालकर तुम नहीं जा सकते।

निषेधाक्षेप—

आक्षेप के इस भेद में यह विशेषता है कि पहिले जिस बात का निषेध किया जाय उसीका प्रकारांतर से समर्थन किया जाय। इष्ट बात

का पहिले एक कारण बतलाकर निषेध किया जाय फिर दूसरा समीचीन कारण बतलाकर उसका स्थापन किया जाय। जैसे—

'हाथ लगत कुम्हिलात सखि, मति तोरै ये फूल।
पै झरिकै गिरि जायँगे चुनि लै मति करि भूल॥'

पहिले फूल तोड़ने का निषेध है पर प्रकारांतर से फूल तोड़ने की स्थापना भी की गई है।

ङ. अर्थ-वैचित्र्य प्रधान

३५. समासोक्ति अलंकार

जहाँ कार्य, लिंग या विशेषण की समता से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाय वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है। जिसका वर्णन स्पष्ट रूप से किया जाय वही प्रस्तुत है और समता से जिस पर उक्त व्यवहार का आरोप किया जाय वही अप्रस्तुत है। अप्रस्तुत का शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जाता। यह आरोप विशेषण में श्लेष से होता है और उसके बिना भी होता है। कार्य अर्थात् व्यवहार की समता का उदाहरण—

कुमुदिनिहू प्रफुलित भई देखि कलानिधि साँझ।

इसमें संध्या के समय चंद्र को देख कुमुदिनी का प्रफुल्लित होना प्रस्तुत वर्णन है पर इस कार्य की समता द्वारा अप्रस्तुत नायिका का नायक को संध्या के समय देखकर प्रसन्न होने का भी आरोप होता है। इसमें कुमुदिनी तथा प्रेयसी और चंद्र तथा नायक का लिंगों की समानता से भी आरोप होता है।

विशेषणों की समता श्लेष तथा दोनों के साधारण साम्य भाव से होती है। श्लेष का उदाहरण—

बड़ो डील लखि पील को सबन तज्यो बन थान।
धनि सरजा तू जगत में ताको हर्‌यो गुमान॥

इसका प्रस्तुत अर्थ यही है हाथी के भारी डील को देखकर सभी ने वन त्याग दिया। पर धन्य हो सिंह, कि तुमने उसका भी गुमान हर लिया। परंतु सरजा शब्द से दूसरा अर्थ शिवाजी का लेने से अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होता है कि हे शिवाजी तुमने औरंगजेब का गर्व तोड़ा, जिससे सभी भागते थे।

साधारण-साम्य का उदाहरण—

लता नवल तनु अंग, जाति जरी जीवन बिना।
कहा सिख्यो यह ढंग, तरुण अरुण निरदै निरखु॥

यहाँ प्रस्तुत अर्थ है कि प्रचंड सूर्य के ताप से जल के अभाव में नवल लता सूख रही है और इसमें प्रयुक्त विशेषणों के समान अन्वय से दूसरे अर्थ का आरोप विरहिणी के व्यवहार पर होता है कि तरुण निर्दय नायक के वियोग में नवल किशोरी नायिका का शरीर स्नेह बिना सूख रहा है। परंतु ध्यान रखना चाहिए कि कोई विशेषण ऐसा भी होना चाहिए जो इस समान व्यवहार की प्रतीति का कारण हो। यहाँ नवल तनु मुख्यतः अप्रस्तुत स्त्री के लिए ही प्रयुक्त होता है पर उसका प्रस्तुत लता के लिए प्रयोग किया गया है, जिससे बिरहिणी की प्रतीति तुरंत हो जाती है।

३६. परिकर अलंकार

जहाँ एक या अनेक विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त हों वहाँ परिकर अलंकार होता है। अर्थात् उस पद की क्रिया से वे विशेषण विशेष रूप से संबंधित हों। जैसे,

शशिबदनी वह नायिका ताप हरत है सोय।

यहाँ शशिबदनी विशेषण साभिप्राय है क्योंकि चंद्र सुधा-वर्षण कर ताप हरण करता है और इसीसे सुधाकर, हिमकर आदि कहलाता है।

विशेषण के अभिप्राययुक्त होने से उक्ति में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाता है इसीलिए यह अलंकार कहलाता है। साधारणतः दिए गए विशेषण ऐसा नहीं कर पाते। परिकर का अर्थ उपकरण है।

३७. परिकराङ्कुर अलंकार

जहाँ विशेष्य शब्द का अभिप्राय युक्त प्रयोग हो अर्थात् उस पद की क्रिया से विशेष रूप से वह संबंधित हो। जैसे,

सूधे हू पिय के कहे नैकु न मानति बाम।

यहाँ विशेष्य वामा शब्द साभिप्राय है अर्थात् जो स्वभावतः वाम या टेढ़ी हो। इसी कारण वह पति की सरल सीधी बात को भी कुछ नहीं समझती और अनखाती है।

वास्तव में यह अलंकार परिकर ही के अंतर्गत है इसीसे उसका अंकुर कहा गया है पर विशेषण तथा विशेष्य के संबंध से अलग अलग नामकरण किया गया है।

३८. श्लेष अलंकार

प्रकृत्या एक अर्थ देनेवाले शब्दों द्वारा अनेक अर्थ जहाँ निकलें वहाँ श्लेष अलंकार होता है। अर्थालंकारों में अर्थश्लेष से ही तात्पर्य है इसीलिए इसकी परिभाषा में 'प्रकृत्या एकार्थक शब्द' लिखा गया है और ध्वनि से भेद करने के लिए वाचन अर्थात् 'निकले' दिया गया है। शब्दालंकारों में शब्दश्लेष होता है, जिसका विवरण उसीके प्रकरण में दिया जायगा। पदों में जिन दो या अधिक वस्तुओं पर अर्थ घटाया जाता है उनका प्रकरण से स्पष्ट उल्लेख होता है या नहीं भी होता है। जहाँ नहीं उल्लेख होता है वहाँ वे सभी वाच्य होते हैं और जहाँ होता है वहाँ वे प्रकृत या प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत कहलाते हैं। कभी कभी ऐसे शब्द का भी प्रयोग हो जाता है, जिसका पर्याय दूसरा शब्द रख देने से अर्थ नहीं घट सकता तब दोनों शब्दश्लेष तथा अर्थ-श्लेष का मेल हो जाता है पर प्रधानता दूसरी ही की रहने से अर्थ श्लेष

हीं माना जाता है। जहाँ पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने से भी श्लेष अलंकार बना रहता है, वहाँ शुद्ध अर्थश्लेष ही रहता है।

श्लेष का उदाहरण—

सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघहर सुखकंद।
जनहित कमला तजन जय शिव, नृप कवि हरिचंद॥

इसमें प्रकरण स्पष्ट है कि इस दोहे का अर्थ शिवजी, राजा हरिश्चंद्र, कवि हरिश्चंद्र, श्रीकृष्ण तथा चंद्रमा पर श्लेष से घटेगा। इसमें कुछ शब्द ऐसे हैं जो एकार्थक हैं पर उनसे आवश्यकतावश कई अर्थ भी लिए गए हैं, जैसे सत्यासक्त। इसका संधिविच्छेद द्वारा सती, सत्या, सत्य, आसक्त अर्थ लिए जायँगे। कुछ ऐसे हैं जो एक ही अर्थ में सब पर लागू होते हैं, जैसे प्रिय, अघहर आदि। इनके स्थान पर पर्याय रख देने से भी अलंकार बना रहता है। एक शब्द द्विज है, जिसके कई अर्थ हैं और उनका उपयोग भी किया गया है। इसके स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने से वह सब आवश्यक अर्थ न दे सकेगा पर तब भी इस दोहे में अर्थश्लेष ही प्रधान है और वही अलंकार माना जायगा।

श्लेष तथा ध्वनि में यह भेद है कि प्रथम में सभी विशेष्य प्राकरणिक या अप्राकरणिक होते हैं पर ध्वनि में केवल एक प्राकरणिक होता है और उसके समझ लेने के बाद ही अनेकार्थी शब्दों द्वारा अन्य अर्थ भी व्यंजित होता है।

श्लेष तथा समासोक्ति में यह भेद है कि प्रथम में विशेषण तथा विशेष्य दोनों ही श्लिष्ट होते हैं पर समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट हो सकता है क्योंकि इसमें केवल एक ही प्रकृत या प्रस्तुत रहता है दूसरा अप्रस्तुत ही रहता है पर श्लेष में दोनों ही प्रस्तुत या अप्रस्तुत हो सकते हैं। वास्तव में श्लेष कई अलंकारों में मूलतः रहता है पर जहाँ जो प्रधान रहता है वहाँ वही अलंकार माना जाता है।

२. विरोधमूलक

३९. विरोध या विरोधाभास अलंकार

जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के वर्णन में किसी एक का दूसरे से पारस्परिक विरोध का आभास मिले वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। यह विरोध वास्तविक नहीं होता, केवल उक्ति में विचित्रता लाने या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए विरोध का आभास होता है, विरोध की प्रतीति मात्र होती है। इसके दस भेद इस प्रकार होते हैं। जैसे—

१–४. जाति का विरोध जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य से।

५–७. गुण का विरोध गुण, क्रिया तथा द्रव्य से।

[सूचना—गुण का जाति से विरोध प्रथम कक्षा के द्वितीय भेद अर्थात् जाति का गुण से विरोध में आ गया है।]

८–९. क्रिया का विरोध क्रिया तथा द्रव्य से।

[सूचना—क्रिया का विरोध जाति तथा गुण से पहिले भेदों में आ गया है]

१०. द्रव्य का विरोध द्रव्य से।

[सूचना—द्रव्य का अन्य तीन से विरोध पहिले के भेदों में आ चुका है]

अब क्रम से इन सब के उदाहरण दिए जाते हैं—

'मलय अनिल दव सम अहै ससि कर में है ताप।
बेधत मन गुंजार अलि विरह तिहारे आप॥'

१. जाति का जाति से—मलय-समीर तथा दावानल दोनों जाति-वाचक शब्द हैं और दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं पर विरह से दोनों सम कहे गए हैं।

२. जाति का गुण से—किरण जातिवाचक तथा ताप गुणवाचक शब्द हैं और विरोधी हैं।

३. जाति का क्रिया से—भ्रमर का गुंजन जातिवाचक तथा बेधना क्रियावाचक है और दोनों विरोधी हैं।

४. जाति का द्रव्य से—'जलज-पत्र रवि सो अहै बिरह तिहारे लाल' में कमल-पत्र जातिवाचक तथा सूर्य द्रव्यवाचक शब्द है और विरोधी हैं।

५. गुण का गुण से—'कितो मिठास दयो दई इते सलोने रूप' में मिठास तथा सलोना दोनों गुणवाची शब्द हैं और विरोधी हैं पर शृंगारिक वर्णन होने से विरोध का आभासमात्र है क्योंकि दोनों ही सौंदर्य के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं।

६. गुण का क्रिया से—'अजहू आजु जनम लयौ' में अजत्व गुण है अर्थात् वह जो जन्म नहीं लेता पर साथ ही कहा गया है कि उस अज ने जन्म लिया। यहाँ अजत्व गुण का जन्म लिया क्रिया से प्रकट में विरोध है।

७. गुण का द्रव्य से—'विरह तिहारे पूर्ण शशि विषमय भयो लखात।' इसमें विषमयता गुण है तथा चंद्र द्रव्य है, जिनमें विरोध है क्योंकि चंद्र सुधाकर कहलाता है।

८. क्रिया का क्रिया से—

तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

इसमें 'न डूबना व डूबना' तथा 'डूबना व तर जाना' क्रियाओं में विरोध है।

९. क्रिया का द्रव्य से—'विरह तिहारे हे सखी ससिहु जरावत गात।' यहाँ चंद्र द्रव्य है तथा जलाना क्रिया है और दोनों में विरोध है। चंद्र प्रकृत्या हिमकर अर्थात् ठंढक देनेवाला है।

१०. द्रव्य का द्रव्य से—'ससिहू रवि सम ह्वै रह्यो'। यहाँ चंद्र तथा सूर्य दोनों द्रव्य हैं और विरोधी हैं। प्रथम ठंढक तथा द्वितीय ताप देनेवाला है।

विरोध अलंकार में यह आवश्यक है कि दो बातों में विरोध स्पष्टतः दिखलाया जाय, पर यह विरोध वास्तविक न हो नहीं तो दोष हो जायगा। यह विरोध वैसा हो जिसका उचित कारण देकर समाधान किया जा सके। यही कारण है कि इसे केवल विरोध न कहकर विरोधाभास ही कहते हैं। विभावना, विशेषोक्ति तथा विरोधाभास तीनों ही अलंकार विरोधमूलक हैं पर प्रथम दो में विरोध केवल संकुचित अर्थात् अपवाद रूप में आता है और तृतीय में उत्सर्ग रूप में अर्थात् पूर्णतः। प्रथम दो में कार्य-कारण संबंध ही से विरोध होता है पर तृतीय में कार्य-कारण संबंध का कोई संपर्क ही नहीं होता। विभावना में कारण का अभाव, अपूर्णतादि बाधक हैं और कार्य बाध्य है अर्थात् कारण का अभाव वास्तविक है और कार्य कल्पित है। विशेषोक्ति में ठीक इसका उलटा है। इसमें कारण बाधक है और कार्य का अभाव बाध्य है अर्थात् कारण के प्रस्तुत रहते भी कार्य के न होने की कल्पना की जाती है। इन दो में वास्तविक तथा कल्पित में विरोध रहता है। विरोधाभास में दोनों ही बाध्य तथा बाधक होते हैं और दोनों ही समबल के होते हैं।

४०. विभावना अलंकार

किसी वस्तु की विशिष्ट रूप से भावना या कल्पना करना विभावना है। जहाँ किसी कार्य का पूरा होना वास्तविक कारण के अभाव में उक्ति-वैचित्र्य द्वारा वर्णित हो अर्थात् अवास्तविक कारण द्वारा कल्पित हो वहाँ विभावना अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं। जहाँ कारण दिया गया हो उसे उक्त-निमित्ता और जहाँ न दिया गया हो उसे अनुक्त निमित्ता कहते हैं। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो

सकता पर कवि कौशल द्वारा १. बिना कारण ही के, २. अपूर्ण कारण के होते, ३. प्रतिबंधक होते, ४. अकारण द्वारा होते या ५. विरोधी कारण द्वारा होते हुए कार्य का या ६ कार्य से कारण के होने का वर्णन करके कविता में चमत्कार उत्पन्न कर देता है अर्थात् उसे अलंकृत करता है। यही अलंकरण विभावना कहलाती है। इसके इस प्रकार छ भेद हुए।

प्रथम विभावना—कल्पित कारण के देने से उक्त निमित्ता तथा न देने से अनुक्त निमित्ता ये दो उपभेद इसके होते हैं। उक्तनिमित्ता का उदाहरण—

'अनायास कटि कृश अहै, बिनु भय चंचल नैन।
बिनु भूषण मन को हरै, युवति काम की ऐन॥'

परिश्रम से कमर कृश होती है, भय से नेत्र चंचल होते हैं और आभूषण आकर्षित करते हैं पर इस पद में इन कारणों के बिना ही सब कार्य होते दिखलाए गए हैं। साथ ही अप्रसिद्ध कारण यौवन दया गया है अतः उक्त निमित्ता है।

अनुक्त निमित्ता का उदाहरण—

बिनु तमोल तेरे अधर सोभित लाल रसाल।

इसमें अधर की लाली का कोई कल्पित कारण नहीं दिया गया है और कारण का अभाव भी कहा गया है अतः अनुक्तनिमित्ता है।

द्वितीय विभावना—इसमें अपूर्ण कारण द्वारा कार्य का पूरा होना दिखलाया जाता है। जैसे,

'बिनु जिह भौंह-कमान चपल, चुकै नहिं नयनसर।
बेधत चल चित आन कमनैती सीखी कहाँ?'

यहाँ बिना प्रत्यंचा के (भौंह रूपी) चपल कमान से बेधना कहा गया है अर्थात् अपूर्ण कारण से कार्य का पूरा होना दिखलाया गया है।

तृतीय विभावना—प्रतिबंधक के होते हुए भी कार्य का पूरा होना। जैसे,

नैना नैक न मानही कितो कहौं समझाइ।
ये मुँहजोर तुरंग लौं ऐंचत हू चलि जाइँ ॥

यहाँ समझाने पर तथा खींचने पर भी चले जाते हैं। प्रतिबंधक के होते भी कार्य पूरा हो जाता है।

चतुर्थ विभावना—जिसका जो कारण नहीं है उसके द्वारा कार्य का होना। जैसे—

आज अनोखो मैं सुन्यो जामैं सरस सवाद।
संखन तें बिकसैं मधुर बर बीना को नाद ॥

शंखों से वीणा का मधुर स्वर निकलना अकारण से कार्य का होना है। शंख से भीम नाद निकल सकता है अतः वह मधुर नाद का अहेतु है। कवि का तात्पर्य शंख के समान कंठवाली नायिका की मधुर वाणी से है और उसी बात को वह इस प्रकार अलंकृत कर कहता है।

पंचम विभावना—विरोधी कारण द्वारा कार्य का होना। जैसे—

'जिह्वा माखन सी मृदुल, मुख सरोज सुकुमार।
बानी कोकिल सी मधुर, बातें मनों कुठार ॥'

सुकुमार मुख की मृदुल जिह्वा मे मधुर आवाज में निकली बातें कुठार का काम करती हैं। वास्तव में बातें भी मीठी, मुलायम होनी चाहिए थीं पर इसके विरुद्ध कठोर हैं अर्थात् विरोधी कारण से हुई हैं।

छठी विभावना—कार्य द्वारा कारण का होना। जैसे,

तुव कृपान धुव धूम ते भयो प्रताप कृसानु।

अग्नि से धूम की उत्पत्ति है पर यहाँ धूम से अग्नि का उत्पन्न होना दिखलाया गया है।

४१. विशेषोक्ति अलंकार

कारण के होते हुए भी कार्य के न होने का चमत्कारपूर्ण वर्णन

करना विशेषोक्ति है। यह साधारण नियम है कि कारण के उपस्थित होते ही स्वभावतः कार्य हो जाता है पर जहाँ इसके विपरीत वर्णन हो अर्थात् कारण की उपस्थिति में भी कार्य का न होना उक्ति-वैचित्र्य द्वारा संतोषजनक रूप में प्रकट किया जाय तो वह उक्ति विशिष्ट होगी और इसीलिए वह विशेषोक्ति कहलाई। इस प्रकार का वर्णन विशेषता लाने ही के लिए किया जाता है अर्थात् कारण के रहते कार्य के न होने का विशेष कारण होता है और उसे ही मनोरंजकता के साथ प्रकट करना कवि का ध्येय है। इसी विशेष कवि-कल्पित निमित्त के कारण, जो उक्त या अनुक्त हो, इस अलंकार का विशेषोक्ति नामकरण हुआ है। इसके दो भेद उक्त निमित्ता तथा अनुक्त निमित्ता हैं।

विशेषोक्ति विभावना का ठीक उलटा रूप है। विभावना में कारण के अभाव में, उसके अपूर्ण होने आदि में कार्य होना दिखलाया जाता है और विशेषोक्ति में कारण के रहते कार्य का न होना कहा जाता है। विभावना में अवास्तविक या अप्रसिद्ध कारण की कल्पना की जाती है और विशेषोक्ति में कारण के रहते भी कार्य के न होने का विशेष कारण कल्पित किया जाता है। दोनों ही में केवल कार्य या कारण के अभाव ही में नहीं प्रत्युत् यदि विरोधी कार्य या कारण भी वर्णित हों तब भी ये ही अलंकार होते हैं। पर ऐसी अवस्था में ये शाब्द न रहकर आर्थ हो जाते हैं।

उक्त निमित्ता का उदाहरण—

'कृष्ण-कमल-मुख अहर्निशि देखत तृप्त न होय।
गोपीजन सरसिज नयन सदा पियासे सोय॥'

यहाँ श्रीकृष्ण के मुख को गोपियों के नेत्र दिन रात देखते रहते हैं, इस कारण उन्हें देखने में तृप्ति होनी चाहिए। कारण के रहते कार्य होना चाहिए पर नहीं होता अर्थात् वे तृप्त नहीं होते। ऐसा होने का यह विशेष कारण बतलाया गया है कि वे नेत्र सदा प्यासे रहनेवाले हैं

अर्थात् पिपासा की तृप्ति का साधन रहते भी वे कभी तृप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनकी प्यास मिट ही नहीं सकती अर्थात् अमिट है।

अनुक्त-निमित्ता का उदाहरण—

त्यों त्यों प्यासेई रहत ज्यों ज्यों पियत, अघाइ।
सगुन सलोने रूप कों जु न चख-तृषा बुझाइ॥

यहाँ अघाकर पीने पर भी प्यासे बने रहते हैं, तृषा बुझती ही नहीं। ऐसा सकारण ही होता है पर वह कारण या निमित्त कहा नहीं गया है।

कुछ अलंकार-शास्त्री एक और भेद अचिंत्य निमित्ता भी मानते हैं पर वास्तव में वह अनुक्त निमित्ता ही के अंतर्गत आ जाता है। इस भेद में अचिंत्य से इतना ही तात्पर्य है कि वह निमित्त साधारण बुद्धि-वालों की समझ से परे है पर सभी की समझ से दूर नहीं है। कारण के रहते कार्य के होने का सहज नियम कवि अपने कौशल से उक्ति-वैचित्र्य द्वारा भंग करता है और यह कौशल इसीमें है कि वह ऐसा किसी अभिप्राय से सकारण करता है। इससे उसकी उक्ति में विशेष चमत्कार आ जाता है। कवि अकारण ही ऐसा कहकर प्रकृत नियम को नहीं तोड़ सकता।

४२. विषम अलंकार

जहाँ कार्य-कारण संबंधी गुण-क्रिया या दो वस्तुओं का संबंध या किसी कार्य का फल जैसा होना चाहिए उसके अनुरूप न हो तो वहाँ विषम अलंकार होता है। स्वभावतः कारण का जो गुण होता है वैसा ही तत्संबंधी कार्य का भी होता है पर जब कवि चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उसके अननुरूप वर्णन करता है तभी यह अलंकार प्रस्फुटित होता है। विषम शब्द का अर्थ ही है सम न होना अर्थात् जैसा वर्णन होना चाहिए उसके विपरीत या विरोधी वर्णन करना। इसके तीन भेद हैं।

प्रथम विषम—

कारण के गुण या क्रिया से कार्य के गुण तथा क्रिया का अननुरूप वर्णन किया जाय।

क. गुण-विरोध का उदाहरण—

खड्गलता अति स्याम तें उपजी कीरति सेत।

यहाँ काली खड्ग रूपी लता से श्वेत कीर्ति का उत्पन्न होना कहा गया है। कारण तथा कार्य के वाह्य रूप रंग एक दूसरे के अनुरूप नहीं हैं।

ख. क्रिया-विरोध का उदाहरण—

'आनंददायिनि प्राण प्रिय, देत ताप अति पीन।'

यहाँ नायिका कारण है और आनंद देना उसका कार्य है पर इसके विपरीत वह विरह में ताप देती है। दोनों कार्य आनंद तथा ताप देने में विरोध है।

द्वितीय विषम—

अच्छे कार्य का जब बुरा फल हो अर्थात् जो फल होना चाहिए वह न होकर उसका उलटा फल हो। जैसे,

शीतल सिख दाहक भई कैसे।

यहाँ ठंढी शिक्षा का फल उसका उल्टा दाहक हुआ। ठंढक की अप्राप्ति ही नहीं हुई प्रत्युत् उसका उल्टा दाह उत्पन्न हो गया। केवल इष्ट फल की अप्राप्ति में, केवल अनिष्ट की प्राप्ति में तथा इष्ट की प्राप्ति के साथ अनिष्ट की प्राप्ति में भी यह अलंकार होता है।

तृतीय विषम—

जहाँ दो ऐसी वस्तुओं का संबंध वर्णित हो जो आपस में बेमेल हों। जैसे,

१. कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा।

२. अति कोमल तन तीय को कहा विरह की लाइ।

ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ कारण तथा कार्य में स्वाभाविक रूप में विषमता रहती हो वहाँ यह अलंकार नहीं होता। वह तो जहाँ कवि के उक्ति-वैचित्र्य से विषमता उत्पन्न हो वहीं होता है। विरोध, असंगति तथा विषम में क्या भेद है यह समझ लेना चाहिए। विरोध में दो भिन्न स्थानों पर रहनेवालों का एकाधिकरण कर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है, असंगति में एक स्थान पर होनेवाले कार्य-कारण का भिन्न स्थानों में होना वर्णन कर चमत्कार लाया जाता है और विषम में कार्य-संबंधी गुण तथा फल कारण-संबंधी गुण तथा फल के अननुरूप वर्णन कर उसे चमत्कारपूर्ण बनाया जाता है।

४३. सम अलंकार

एक का दूसरे के साथ अनुरूप कारणों से योग्य संबंध वर्णन करना सम अलंकार है। यह विषम का ठीक उलटा है। इस प्रकार तीन विषम के तीनों विपर्यय तीन सम हुए। प्रथम सम के दो भेद माने जाते हैं—एक सत्-योग और द्वितीय असत्-योग।

प्रथम सम—

क. सद्योग—उत्तम वस्तुओं में योग्य संबंध का वर्णन। जैसे,

जेइ बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेइ स्यामल बर रच्यौ बिचारी॥

यहाँ सीताजी के योग्य वर का वर्णन दोनों की अनुरूपता के कारण हुआ है।

ख. असद्योग—निकृष्ट वस्तुओं में योग्य संबंध वर्णन। जैसे,

ऊधो, कुब्जा कूबरी कान्ह त्रिभंगी जोग।

यहाँ त्रिभंगी (तीन स्थान से टेढ़े) कृष्ण के योग्य कूबरी कुब्जा का वर्णन अनुरूपता के कारण ही किया गया है।

द्वितीय सम—

कारण के अनुरूप कार्य का वर्णन करना ही द्वितीय सम है। जैसे,

जग जीवन को दंद उदय होत ही तम हरै।
छीरसिंधु को नंद क्यों न ऊजरो होय ससि ॥

क्षीरसिंधु से उत्पन्न होने के कारण चंद्र उज्वल वर्ण का क्यों न हो और वैसा होने ही से वह अंधकार को उदय होते ही दूर करता है। यहाँ कारण के अनुरूप कार्य का वर्णन है।

तृतीय सम—

अनिष्ट के बिना कार्य की सिद्धि के वर्णन को तृतीय सम कहते हैं। जैसे,

जस ही को उद्यम कियो नीकै पायो ताहि ॥

यश प्राप्ति का उद्योग करने पर वह अच्छी प्रकार प्राप्त हुआ। बिना अनिष्ट के फल-प्राप्ति का वर्णन है। जहाँ श्लेष से अनिष्ट होते भी प्रकट रूप में इष्ट प्राप्ति ज्ञात हो वहाँ भी यही सम होता है।

साधारण रूप से कारण के अनुरूप कार्य होना, उद्यम करने पर उसका फल मिलना या यथायोग्य संबंध होना ही सम अलंकार नहीं है—जैसे, दीप बालने से प्रकाश हो गया, वैद्य के दवा देने से रोगी अच्छा हो गया या दोनों की जोड़ी अच्छी है। इन उदाहरणों में कोई अलंकरण नहीं है। जब कवि अपने कौशल से कुछ उक्ति-वैचित्र्य लाकर अनुरूप कारण देते हुए, चाहे वे वास्तविक भी न हों, योग्य कार्य, फलप्राप्ति तथा उचित संबंध का वर्णन करता है तभी वह अलंकृत होता है। श्लेष की सहायता भी इस अलंकार में ली जाती है।

४४. असंगति अलंकार

स्वाभाविक संगति का त्याग ही असंगति है। जिस स्थान पर जो कार्य होना चाहिए वहाँ न होकर अन्यत्र ह तो उसे असंगति कहते हैं। यह साधारण नियम है कि कारण जहाँ होता है वहीं कार्य होता है पर कवि कौशल विशेष द्वारा कविता में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उस

कार्य का अन्यत्र होना वर्णित करता है तब असंगति अलंकार होता है। इस अलंकार में यह आवश्यक नहीं है कि कार्य-कारण ही में यह वैयधिकरण्य हो, कार्यों में, जिन्हें एक स्थान ही पर स्वभावतः होना चाहिए, वैयधिकरण्य होने से भी यह अलंकार होता है। इसके तीन भेद हैं :—

प्रथम असंगति—

जहाँ कारण तथा कार्य एक ही स्थान में न होकर भिन्न स्थानों में हों, अर्थात् उनका वैयधिकरण्य वर्णन किया जाय। जैसे,

कोयल मदमाती भई झूमत अंबा मौर।

यहाँ कोयल का मत्त होना कहा गया है और उसे ही मस्ती में झूमना चाहिए पर आम की मौर का झूमना वर्णन किया गया है। कारण तथा कार्य का दो भिन्न स्थानों में होना दिखलाया गया है। वास्तव में वसंत-आगमन से कोयल मत्त हुई है और वायु से आम की मौर हिल रही है पर कवि ने कौशल से दोनों का वर्णन एक साथ इस प्रकार कर दिया है।

द्वितीय असंगति—

जिस कार्य को स्वभावतः जहाँ होना चाहिए वहाँ न होकर उसका अन्यत्र होना वर्णन किया जाय। जैसे,

तेरे अरि की अंगना तिलक लगायो पानि॥

तिलक मस्तक पर लगाया जाता है पर वर्णन है कि वह हाथ में लगाया गया। कवि का तात्पर्य है कि शत्रु की स्त्री ने शोक में तिलक को हाथ से पोंछ लिया, जिससे वह हाथ पर लग गया।

तृतीय असंगति—

जो कार्य करना था वैसा न कर उसके विरोधी कार्य का किया जाना दिखलाया जाय। जैसे,

मोह मिटायो नाहिं प्रभु मोह लगायो आनि॥

यहाँ कवि कहता है कि हे भगवन्, आपका अवतार मोह (*अज्ञान) मिटाने के लिए हुआ था पर आपने तो मोह न मिटाकर उसे और भी लगाया (बढ़ाया)। श्रीकृष्ण ने व्रज के गोप-गोपी आदि को मोहित कर लिया था। अर्थात् जो कार्य उन्हें करना चाहिए था उसके विपरीत कार्य किया।

एक बात ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ स्वभावतः कारण एक स्थान पर होता है और उसका कार्य अन्यत्र होता है वहाँ वैयधिकरण्य नहीं है अतः असंगति अलंकार भी नहीं है। असंगति में भी कारण-कार्य संबंधी विरोध ही होता है इसलिए इन दोनों अलंकारों का भेद समझ लेना चाहिए। यदि विरोध उत्सर्ग है तो असंगति उसका अपवाद है। इसलिए यदि किसी उदाहरण में असंगति की परिभाषा पूर्णरूपेण मिल जाय तो वहाँ विरोध न होकर असंगति ही रहेगा।

४५. असंभव अलंकार

असंभव का अर्थ स्पष्ट है। जहाँ ऐसी बात का वर्णन हो, जो संभव न होते हुए भी घटित हो जाय। जैसे,

यह को जानत हो जु यह बामन बाल स्वरूप।
नाप लेइगो लोक तिहुँ धारि त्रिविक्रम रूप॥

यहाँ त्रिलोक को तीन पग में नाप लेना छोटे से बावन भगवान के लिए असंभव था पर वैसा घटित हो गया। असंभव बात भी संभव हो गई। 'यह को जानत हो' कहकर असंभवता सूचित की गई है।

४६. विचित्र अलंकार

जब इष्ट फल की प्राप्ति के लिए उससे विपरीत कार्य किया जाय तब विचित्र अलंकार होता है। इसमें यही विचित्रता है कि हम चाहते हैं कुछ और करते हैं उसके विपरीत। साधारणतः इच्छा के अनुसार ही प्रयत्न किया जाता है।

उदाहरण—

नवत उच्चता लहन कों जे हैं पुरुष पवित्र ॥

यहाँ उच्चता की प्राप्ति के लिए उसका विपरीत कार्य नवना (नम्र होना) कहा गया है।

विचित्र तथा विषम के उस भेद में, जिसमें कारण के विपरीत कार्य होता है, क्या भिन्नता है, ऐसा प्रश्न उठता है। विचित्र में विपरीत कार्य करने का स्वतः प्रयत्न किया जाता है और विषम में विपरीत कार्य आप से आप हो जाता है। विषम में कारण से कार्य के गुण या क्रिया विरुद्ध होते हैं और विचित्र में इष्ट फल की सिद्धि के लिए विपरीत प्रयत्न किया जाता है।

४७. व्याघात अलंकार

जिस उपाय से एक के द्वारा कोई कार्य सिद्ध किया जाय उसी उपाय से दूसरे के द्वारा वह कार्य अन्यथा कर दिया जाय तो वहाँ व्याघात अलंकार होता है। इसमें तीन बातें आवश्यक हैं—१. एक के द्वारा किसी उपाय से एक कार्य सिद्ध किया जाय २. दूसरे के द्वारा उसी उपाय से उस कार्य को व्याघात पहुँचाकर अन्यथा कर दिया जाय तथा ३. यह वर्णन साधारण स्थिति का न होकर चमत्कारपूर्ण हो। यह प्रथम व्याघात है। दूसरा व्याघात यह है कि जब एक ही उपाय या तर्क से विपरीत कार्य का समर्थन किया जाय। इसमें दो आवश्यक बातें इस प्रकार हैं—१. एक के द्वारा एक उपाय या तर्क से किसी कार्य का होना प्रस्तावित हो। २. दूसरे के द्वारा उसी उपाय या तर्क को लेकर विपरीत कार्य का सुगमता से होना कहा जाय। इन दो भेदों में यही भिन्नता है कि प्रथम में कार्य हो जाने पर दूसरे के द्वारा उसका विघटन होता है और द्वितीय में दोनों एक ही उपाय या तर्क के द्वारा विपरीत कार्य का होना प्रस्तावित करते हैं।

प्रथम व्याघात का उदाहरण—

लोभी धन संचय करै दारिद को डर मानि।
'दास' यहै डर मानिकै दान देत है दानि ॥

यहाँ दारिद्रय के भय के कारण लोभी धन बटोरता है परंतु उसी दारिद्रय-भय से दानी उदारता से धन दान देता है। लोभी इहलोक ही की दरिद्रता से डरता है और दानी को जन्मांतर की दरिद्रता का भय है।

द्वितीय व्याघात का उदाहरण—

निहचैं जानत बाल तो कहा करत परिहार ॥

किसी लड़के से उसकी बाल्यावस्था का बहाना कर कहीं लिवा जाने से रोका इस पर उसी तर्क को उलट कर अपने पक्ष के समर्थन में वह लड़का उपस्थित करता है कि यदि निश्चयपूर्वक आप हमें बालक समझते हैं तो क्यों नहीं साथ लिवा चलते।

४८. अधिक अलंकार

जहाँ आधेय तथा आधार क्रमशः आधार तथा आधेय से बड़े (अधिक) वर्णन किए जायँ वहाँ अधिक अलंकार होता है। इस अलंकार में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वाभाविक रूप में आधेय या आधार की विशालता न हो प्रत्युत् कवि की कल्पना से वह आ गई हो। इसके दो भेद हैं—

१. आधेय की अपेक्षा आधार बड़ा वर्णन किया जाय। जैसे,

जा जदुपति के उदर में सिगरो बसत जहान।
सुख सों राखति ताहि तू हियरे हार समान ॥

यहाँ आधार की अधिकता वर्णन की गई है। श्रीकृष्ण आधेय हैं और गोपिका आधार है।

२. आधार की अपेक्षा आधेय बड़ा वर्णन किया जाय। जैसे,

सात दीप नौ खंड में तुव जस नाहिं समान ॥

यहाँ आधेय यश की अधिकता वर्णित है।

४९. अल्प अलंकार

जब छोटे आधेय से बड़ा आधार छोटा वर्णन किया जाय तो वहाँ अल्प अलंकार होता है। छोटे आधेय के बड़े आधार के उपयुक्त हो जाने में भी यही अलंकार माना जाता है। जैसे, उँगली की अगूठी अब उसके हाथ में कंकण रूप में भी ढीली होती है। यहाँ अँगूठी छोटा आधेय है और हाथ आधार बड़ा है पर तब भी हाथ में अँगूठी के ढीली होने के कथन से बड़ा आधार छोटा वर्णित हुआ है। इसी उदाहरण को इस प्रकार कहें तो भी यही अलंकार होगा।

कनगुरिया की मुँदरी ककना होहि।

यहाँ अँगूठी के कंकण होने मात्र का उल्लेख है। छोटे आधेय अँगूठी का बड़े आधार हाथ के उपयुक्त कंकण हो जाने का वर्णन है।

अल्प वास्तव में अधिक का ही एक भेदमात्र है। यदि अल्प की परिभाषा इस प्रकार लिखी जाय कि बड़े आधार से छोटा आधेय बड़ा वर्णन किया जाय तो अधिक के दूसरे भेद के अंतर्गत आ जायगा।

५०. विशेष अलंकार

विशेष का अर्थ असाधारण है अर्थात् जहाँ साधारण से कोई बढ़कर असामान्य बात कही जाय वहाँ यह अलंकार होता है। इसके तीन भेद हैं—

१. प्रथम विशेष—जहाँ ज्ञात आधार के बिना आधेय का होना वर्णन किया जाय। जैसे,

वंदनीय केहि के नहीं वे कविंद मतिमान।
स्वर्ग गए हू काव्य जिन देत अनंद जहान॥

यहाँ कविंद आधार है और उनका काव्य आधेय है और आधार के स्वर्ग चले जाने पर भी आधेय की स्थिति वर्णित है।

२. द्वितीय विशेष—जब एक ही वस्तु की अनेक स्थानों में एक ही समय स्थिति वर्णन की जाय। जैसे,

सोअत जागत दिसि बिदिसि देखि परैं घनस्याम ।
कंस हृदय आठौ पहर कृष्ण करैं बिश्राम ॥

यहाँ श्रीकृष्ण एक ही समय कंस को सर्वत्र दिखलाई दे रहे हैं।

३. तृतीय विशेष—जब कोई कार्य करते हुए दैवात् अशक्य कार्य के भी हो जाने का वर्णन किया जाय। जैसे,

'प्यास मिटावन गंगजल पान कियो अति हेत ।
मिल्यौ चारि फल साथ ही भगवद्भक्ति समेत ॥'

यहाँ पिपासा मिटाने के लिए गंगाजल पान किया गया पर साथ ही दुर्लभ चारों फल तथा भक्ति की प्राप्ति हो गई ।

५१. अन्योन्य अलंकार

जब दो वस्तु एक ही कार्य एक दूसरे के प्रति करते हैं तब अन्योन्य अलंकार होता है। दोनों हो पारस्परिक रूप से एक दूसरे में वही विशेषता उत्पादित करते हैं। इस अलंकार में आवश्यक है कि दोनों एक दूसरे के प्रति कुछ कार्य करें तथा जो कार्य हो वह दोनों के लिए समान रूप हो। जैसे,

सर की शोभा हंस है, राजहंस की ताल ।

यहाँ तालाब तथा हंस दोनों ही एक दूसरे की शोभा हैं अर्थात् शोभा इन्हीं दो की अन्योन्याश्रित है।

यह आवश्यक नहीं है कि दोनों एक कार्य ही पारस्परिक रूप में एक दूसरे पर करें। यदि एक ही प्रकार का गुण भी एक दूसरे में उत्पादित करें तो वहाँ भी यह अलंकार होता है। जैसे,

रामचंद्र बिनु सिय दुखी सिय बिनु उत रघुराय ।

यहाँ रामचंद्र तथा सीता दोनों ही एक दूसरे में पारस्परिक विरह के कारण एक सा दुःख का भाव उत्पन्न करते हैं।

३. शृंखलामूलक

५२. कारणमाला अलंकार

कारणमाला का अर्थ कारणों की माला या शृंखला है। पूर्व-पूर्व-कथित बातें जब उत्तरोत्तर कथित बातों के कारण रूप में कही जायँ, वहाँ यह अलंकार होता है। किसी कारण से किसी कार्य का होना कहा गया, अब इस कार्य को आगे के कार्य का कारण बतलाया गया तथा इसी प्रकार यह शृंखला कुछ दूर चलाई गई, तो यही कारणों की माला या कारणमाला हुई। यह शृंखला दो या उससे अधिक बातों की होनी चाहिए। जैसे—

बिनु सत्संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम पद होय न दृढ़ अनुराग॥

यहाँ सत्संग से हरि-कथा जानी जाती है, हरि-कथा से मोह भागता है और मोह भागने से राम-पद में दृढ़ अनुराग होता है। इसमें प्रथम कारण सत्संग से हरि-कथा का ज्ञान कार्य होता है। यही कार्य दूसरी बात में कारण बनकर मोह भगाने का कार्य करता है और तीसरी बात में यही कारण बनकर रामभक्ति प्रदान करता है।

जहाँ बाद में कहे हुए प्रत्येक कार्य का कारण पूर्व में कही हुई बात में कार्य हो जाय तो वहाँ भी कारणमाला अलंकार होता है। किसी कारण से कुछ कार्य हुआ कहा गया, अब यह कारण इसके पहिले कही हुई बात में कार्य हो जाय और इसी प्रकार यह शृङ्खला चलती रहे। जैसे,

'स्वर्ग मिलै धन-दान से, होत ऋद्धि से दान।
मिलै ऋद्धि सौभाग्य से, भाग्य देत भगवान॥'

यहाँ भगवान भाग्य देता है, भाग्य से ऐश्वर्य मिलता है, ऐश्वर्य से दान दिया जाता है और दान से स्वर्ग मिलता है।

५३. मालादीपक अलंकार

दीपक अलंकार में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के एक धर्म का वर्णन होता है। जब पूर्व-कथित वस्तु से उत्तरोत्तर कथित वस्तु का एक धर्म से शृङ्खला रूप में संबंध वर्णन किया जाता है तब मालादीपक अलंकार होता है। इस अलंकार में दो बातें आवश्यक हैं—१. कई वस्तु एक ही धर्म से संबंधित हों और २. प्रत्येक पूर्व-कथित वस्तु उत्तरोत्तर कथित वस्तु के विशेषण रूप में हो। दीपक अलंकार में जो सादृश्य का भाव है, वह इस अलंकार में नहीं रहता अतः प्रस्तुत (उपमेय) तथा अप्रस्तुत (उपमान) शब्दों की इसकी परिभाषा में आवश्यकता नहीं है और केवल वस्तु शब्द ही रखा गया है। इस अलंकार में माला शब्द शृङ्खला के अर्थ में आया है और दीपक शब्द कई वस्तुओं में एक ही धर्म का प्रकाश करने के भाव से व्यवहृत हुआ है। वास्तव में मालादीपक अलंकार दीपक का उपभेद नहीं है और इसीलिए वह सादृश्यमूलक अलंकारों के अंतर्गत न आकर शृङ्खलामूलक के भीतर आता है।

उदाहरण—

रस सों काव्यऽरु काव्य सों सोहत बचन महान।
बचननि ही सो रसिकजन तिनसों सभा सुजान॥

यहाँ रस से काव्य, काव्य से वाणी, वाणी से रसिक तथा रसिकों से सभा सुशोभित होती है। इनमें चार वस्तुओं का एक ही धर्म कहा गया है और प्रत्येक पूर्व-कथित वस्तु बाद में कही गई वस्तु से विशेषण रूप में संबंध रखती है।

५४. एकावली अलंकार

जिस हार में केवल एक लड़ी हो उसे एकावली कहते हैं। इस अलंकार में पूर्व-कथित तथा उत्तर-कथित वस्तुओं की एक ही शृङ्खला

होती है, इसीसे ऐसा नामकरण हुआ है। जहाँ प्रत्येक उत्तर-कथित वस्तु का पूर्व-कथित वस्तु के विशेषण रूप में समर्थन या निषेध किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। जब प्रत्येक पूर्व-कथित विशेष्य उत्तर-कथित वस्तु का विशेषण रूप में समर्थन या निषेध करे तब भी यही अलंकार होता है। यह समझ लेना चाहिए कि इन शृंखलामूलक अलंकारों में विशेषण-विशेष्य शब्द व्याकरण के इन्हीं शब्दों से कहीं अधिक व्यापक हैं। यहाँ इनका तात्पर्य यह है कि दो वस्तुओं में विशेषता दिखलाकर उनमें संबंध या विभिन्नता प्रगट करें। विशेष्य वही है, जिसकी विशेषता दिखलाई गई हो।

विशेषण-भाव से समर्थन—

गिरि पै वृष, वृष पै जु शिव, शिव पै सुरसरि नीर।

यहाँ उत्तर-कथित वृष, शिव तथा सुरसरि नीर पूर्व-कथित गिरि, वृष तथा शिव के विशेषण भाव में आए हैं, जिससे कैलाश पहाड़, नंदी वृष तथा सुरसरि गंगा स्पष्ट जाने जाते हैं और सब में एक ही शृंखला है। यदि इस उदाहरण में 'शिव पै सोहत गंग' कर दिया जाय तो एकावली न होकर मालादीपक का एक भेद हो जायगा।

विशेषण-भाव से निषेध—

'नहि सर सरसिज के बिना, बिनु अलि सरसिज नाहिं।
नहिं अलि है गुंजार बिनु, हरै न मन सो नाहिं॥'

यहाँ विशेषण भाव ही से उत्तर-कथित वस्तु द्वारा पूर्व-कथित वस्तु का निषेध किया गया है।

विशेष्य भाव से समर्थन—

'वापी निर्मल नीर युत, कमल सरोवर माहिं।
भ्रमर सरोरुह पै भले, गुंजन युत अलि आहिं॥'

यहाँ पूर्वकथित निर्मल नीर-युत का विशेष्य वापी आगे कमल का वशेषण हो जाता है और यही क्रम अंत तक चलता है।

विशेष्य-भाव से निषेध—

'तीर्थ क्षेत्र सर्वत्र नहिं, नास्तिक नहिं सब तीर्थ।
नास्तिक में नहिं धर्म है, धर्म न दे दुख व्यर्थ ॥'

यहाँ पूर्व-कथित विशेष्य तीर्थक्षेत्र उत्तर-कथित नास्तिक का विशेषण बनकर निषेध करता है और इसी प्रकार अंत तक चलता है।

५५. सार अलंकार

वर्णित वस्तुओं में जब क्रमशः धारावाहिक रूप में उत्कर्ष दिखलाया जाय अर्थात् पहिले कही हुई वस्तु से उसके बाद की कथित वस्तु का तथा इसी प्रकार अंत तक उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन किया जाय वहाँ सार अलंकार होता है। सार का अर्थ है उत्कृष्टता, तत्व। इस अलंकार में क्रम से उत्कृष्टतर वस्तु का कथन होते उत्कृष्टतम पर समाप्त होता है इसीसे यह नामकरण हुआ है। इसे उदार भी कहा गया है। एक ही वस्तु की अनेक अवस्थाओं में क्रमिक उत्कृष्टता का वर्णन भी इसी के अंतर्गत आता है। स्वरूप, धर्म आदि अनेक प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है। यह उत्कर्ष भली तथा बुरी दोनों बातों में हो सकता है। इसे अपकर्ष कहना उचित नहीं ज्ञात होता क्योंकि सार या उदार शब्दों में उत्कर्ष या उत्कृष्टता ही का भाव है, अपकर्ष का नहीं।

उदाहरण—

१. मधु सों मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार।

यहाँ मधु, सुधा तथा कविता में क्रमशः माधुर्य का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखलाया गया है।

२. तृण ते लघु है तूल तूलहु ते लघु मंगनो।

यहाँ तृण, तूल तथा मंगन में लघुता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखलाया गया है।

४. न्यायमूलक, क. वाक्य-न्याय

५६. यथासंख्य या क्रम अलंकार

पूर्व-कथित वस्तुओं का जब उसी क्रम से आगे वर्णन या उल्लेख किया जाय तब यथासंख्य अलंकार होता है। अपक्रम एक दोष है अर्थात् जिस क्रम से कुछ वस्तुओं का उल्लेख किया गया हो उसी क्रम से जब बाद में उनका वर्णन, उपमा आदि, देते कथन न हो तब यह अपक्रम या क्रमभंग दोष होता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि इस दोष का अभाव ही क्रम अलंकार है। इस कारण कुछ अलंकार-शास्त्रियों का कहना है कि यह अलंकार नहीं है केवल दोष का अभाव मात्र है पर वास्तव में इस दोषहीनता में भी कुछ चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य रहता ही है और इसीसे दंडी आदि प्राचीन आचार्यों ने भी इसे अलंकार माना है। जैसे,

अमी, हलाहल, मद भरे श्वेत, श्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार॥

इसमें अमिय, हलाहल तथा मद का पहिले उल्लेख हुआ और फिर उनके वर्ण क्रम से श्वेत, श्याम तथा रतनार कहे गए। इसके अनंतर उसी क्रम से उन तीनों का प्रभाव जीना, मरना तथा झूमना कहा गया है। नेत्र में तीनों रंग हैं, उन्हीं को लेकर कवि ने सुंदर नेत्रों के कटाक्ष का क्या क्या प्रभाव पड़ता है उसीका इस दोहे में वर्णन किया है। इसमें अपक्रम दोष नहीं है, इतना ही कह देना अलं नहीं है। इस दोहे में कवि ने कुछ चमत्कार भी उत्पन्न कर दिया है और वही क्रम अलंकार है।

दूसरा उदाहरण—

'बिरहिनि को संताप दै देत संजोगिनि चैन।
पायो साप असीस ससि घटत बढ़त दिन-रैन॥'

इसमें चंद्रमा विरहिणी को दुःख तथा संयोगिनी को सुख देता है अतः दोनों से क्रमशः शाप तथा आशीष पाता है, जिससे दिन-रात क्षीण होता तथा बढ़ता है। इसमें भी केवल दोष का अभाव है यही कहना अलं नहीं है प्रत्युत कवि-कौशल भी है।

विपरीत क्रम तथा क्रमभंग दोष हैं। ये अलंकार नहीं माने जा सकते।

५७. पर्याय अलंकार

पर्याय शब्द का अर्थ है क्रम और इस अलंकार में क्रम से एक के बाद दूसरे में किसी वस्तु का आश्रय लेना या अनेक वस्तुओं का एक ही आधार में एक के बाद दूसरे का स्वतः स्थित होना या किया जाना वर्णित होता है इसलिये यह क्रमवत् या पर्यायवत् ही है अतः इसका नामकरण पर्याय किया गया है। पर्याय दो प्रकार का होता है।

प्रथम पर्याय—

जब एक ही वस्तु क्रमशः अनेक आश्रयों में स्वतः स्थित हो या की जाय। जैसे,

१. स्वतः स्थिति—

हालाहल, तुहिं नित नये किन बतराये ऐन।
अंबुधि-हिय पुनि शंभु-गर अब निवसत खल-बैन॥

यहाँ विष का क्रमशः समुद्र-हृदय, शिवजी के कंठ तथा दुष्टों की वाणी में निवास करना कहा गया है। इन सभी आधारों में विष की स्वतः स्थिति है।

२. अन्य द्वारा स्थिति—

अँसुअन बहि कै नद कियो, नद ते कियो समुद्र।
अब सिगरो जग जलमयो कियो चहत बनि रुद्र॥

यहाँ आँसुओं का आश्रय क्रमशः नदी, समुद्र तथा संसार बनाया गया है, स्वतः स्थित नहीं है।

द्वितीय पर्याय—

जब अनेक वस्तुओं की क्रमशः एक ही आधार में स्थिति हो या, की जाय। जैसे,

१. स्वतः स्थिति—

हुती तरलता चरन में भई मंदता आइ।

यहाँ चरणों में पहिले चपलता थी पर अब मंदता आ गई अर्थात् अब मंदगामिनी हो गई। चरणों में चपलता तथा मंदता दोनों का क्रमशः आश्रय लेना कहा गया है। ये स्वतः आ गए हैं, किसी अन्य के द्वारा नहीं लाए गए हैं।

२. अन्य द्वारा स्थिति—

ऋषिहि देखि हरषै हियो राम देखि कुम्हिलाय।
धनुष देखि डरपै महा चिंता चित्त डुलाय॥

यहाँ चिंता द्वारा हृदय में हर्ष, शोक तथा भय तीनों क्रम से आते हैं।

विशेष के द्वितीय भेद तथा प्रथम पर्याय में यह भिन्नता है कि पहिले में एक वस्तु कई आधारों में एक साथ ही रहती कही जाती है और दूसरे में क्रम से रहना कहा जाता है। परिवृत्ति तथा पर्याय में यह भेद है कि प्रथम में एक वस्तु को बदले में देकर दूसरी ली जाती है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि एक वस्तु की क्रमशः कई आधारों में स्थिति का होना या कई वस्तुओं का क्रमशः एक ही आधार में स्थित होना कोरी वस्तुस्थिति मात्र होने से यह अलंकार नहीं होता। इस प्रकार का वर्णन अलंकृत होने के लिए कवि कल्पना द्वारा उद्भूत होना चाहिए।

५८. परिसंख्या अलंकार

परिसंख्या शब्द में परि उपसर्ग है, जिसके कई अर्थ हैं तथा अन्य

शब्दों के पहिले जुड़ने पर उनमें अर्थ की वृद्धि करते हैं। यहाँ परि उपसर्ग संख्या में नियम भाव की वृद्धि करता है। धर्मशास्त्र में विधि; नियम तथा परिसंख्या तीन प्रधान शब्द हैं। विधि वह है, जो क्या करणीय है यही केवल बतला दे। नियम वह है जो कई प्रकार से हो सकनेवाले कामों में एक का आदेश दे तथा जिससे अन्य का निषेध समझा जाय। परिसंख्या वह है जिसमें निषेध ही किया जाय। जहाँ प्रश्न करते हुए या बिना प्रश्न के कोई बात उसीके सदृश अन्य बातों को व्यंग्य या वाच्य से निषेध करने के अभिप्राय से कही जाय तो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है। यह कही हुई बात अवश्य ही अन्य प्रमाणों से सिद्ध प्रसिद्ध हो। इस अलंकार के प्रश्नपूर्वक तथा बिना प्रश्न के होने से दो भेद हुए और प्रत्येक के वाच्य तथा व्यंग्य से निषेध होने के कारण दो दो भेद हुए। इस प्रकार परिसंख्या के चार भेद हैं।

१. परिसंख्या, प्रश्नपूर्वक व्यंग्य—

सेव्य कहा ? सुरसरित-तट, कहा ध्येय ? हरि-पाद।
करन उचित कह ? धर्म नित, चित तजि सकल विषाद॥

इसमें प्रश्नोत्तर में जो बातें कही गई हैं, उनसे व्यंग्य से अन्य सदृश बातों का निषेध भी है। जैसे, धन आदि सेव्य नहीं हैं।

२. परिसंख्या, प्रश्नपूर्वक वाच्य—

'सेव्य कहा ? तट सुरसरी, नहिं बनिता धन धाम।
ध्येय कहा ? हरि-चरन-रति, नहिं विषया अरु बाम॥'

यहाँ व्यंग्य से निषेध न कहकर स्पष्ट वाच्य में कह दिया गया है।

३. परिसंख्या, बिना प्रश्न, व्यंग्य—

इतनोई स्वारथ बड़ो लहि नर-तनु जग माहिं।
भक्ति अनन्य गुविंद-पद लखहि चराचर ताहि॥

इसमें गोविंद-पद की अनन्य भक्ति ही मनुष्य-शरीर का परम स्वार्थ कहते हुए विषय-भोगादि का व्यंग्य से निषेध ज्ञात होता है।

४. परिसंख्या, बिना प्रश्न, वाच्य—
'नर-तनु लहि स्वारथ इतो श्री हरि में अनुराग।
विषय-भोग स्त्री-पुत्र में रखै न रंचक राग॥'
यहाँ स्पष्ट शब्दों में निषेध भी साथ ही साथ किया गया है।

५९. परिवृत्ति अलंकार

परिवृत्ति शब्द का अर्थ विनिमय, अदला बदला या लेन देन है। इस अलंकार में भी एक प्रकार का विनिमय ही है पर यह जब तक कवि-कल्पित उक्ति-वैचित्र्य-युक्त है तभी तक अलंकार है। एक बात और ध्यान में रखना चाहिए। विनिमय में दो मनुष्यों का होना आवश्यक है। एक कोई वस्तु दूसरे को देता है और उसके बदले में दूसरे से अन्य वस्तु पाता है पर इस अलंकार में कहीं कहीं ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें एक ही मनुष्य एक वस्तु का त्याग करता है और दूसरी वस्तु का उसके बदले में ग्रहण करता है या एक ही मनुष्य कुछ देकर उसके बदले में कुछ आप ही ले लेता है। दूसरी अवस्था में परिवृत्ति पर्याय के उस भेद से मिल जाता है, जहाँ अनेक वस्तु क्रमशः एक आधार में स्थित हों या किए जायँ। वहाँ यही देखना चाहिए कि उदाहरण में विनिमय का भाव परिलक्षित होता है या नहीं।

जहाँ एक वस्तु देकर उसके बदले में सम, न्यून या अधिक मूल्यवान वस्तु प्राप्त करने का वर्णन हो वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है। इसके दो भेद सम और विषम किए गए हैं और विषम के दो अवांतर भेद हैं—१. न्यून देकर अधिक तथा २. अधिक देकर न्यून प्राप्त करना है। सम का अवांतर भेद करना अनावश्यक है। न्यून से न्यून, अधिक से अधिक, उत्तम से उत्तम आदि अवांतर भेद सभी सम हैं और इस प्रकार तो बहुत से उपभेद बनाए जा सकते हैं। सम को कुछ आचार्य परिवृत्ति अलंकार नहीं मानते और कुछ मानते हैं।

सम परिवृत्ति का उदाहरण—

'बरजोरी मन मो हरयौ दियौ आपुनो मोहिं।'

यहाँ दोनों ही मन हैं अतः सम है और एक ही मनुष्य बलात् विनिमय कर लेता है।

विषम परिवृत्ति अधिक देकर न्यून लेने का उदाहरण—

मन मानिक दीन्हो तुम्हें लीन्ही विरह बलाय।

यहाँ मन सी अच्छी वस्तु देकर बदले में विरह सी बला ले ली। इसमें भी एक ही मनुष्य देता लेता है पर भाव विनिमय ही का है।

न्यून देकर अधिक लेना—उदाहरण

चारो फल लेत चार चाउर चढ़ाए तें।

यहाँ चार अक्षत चढ़ाकर भक्त चारों फल पाता है।

६०. विकल्प अलंकार

विकल्प का अर्थ विरोधी कल्पना या विविध कल्पना है। जहाँ सदृश बल की दो वस्तुओं का उक्ति-वैचित्र्य युक्त या चमत्कारपूर्ण विरोध एक ही समय होता हो तो वहाँ विकल्प अलंकार होता है। अर्थात् दो वस्तुओं में एक ही हो सकता है, चाहे यह हो या वह हो। विकल्प में चार आवश्यक बातें होनी चाहिए—१. दो सदृश बल की वस्तुएँ २. दोनों एक ही के द्वारा साथ साथ न हो सकें ३. ऐसा होने से दो में इच्छानुसार एक कर सके तथा ४. दोनों में कल्पित सादृश्य हो।

उदाहरण—

जन्म कोटि लगि रगरि हमारी। बरौं शंभु न तु रहौं कुमारी॥

यहाँ पार्वतीजी की प्रतिज्ञा में शंभु का वरण करना तथा सदा कुमारी रहना दो सदृशबल वस्तुएँ हैं और दोनों पार्वतीजी द्वारा एक साथ नहीं हो सकते अतः एक दूसरे के विरोधी हैं। इन दो में इच्छा-

नुसार एक हो सकता है और दोनों समान कहे जाने के कारण इनमें सादृश्य कल्पित है।

जहाँ केवल विकल्प मात्र हो वहाँ यह अलंकार नहीं होता। जैसे, उस कमरे से गुलाब की सुगंध आ रही है, या तो वहाँ गुलाब के फूलों की टोकरी रखी होगी या गुलाब का इत्र खूब लगाए हुए कोई बैठा होगा। यहाँ कोरा विकल्प है, अलंकार नहीं।

६१. समुच्चय अलंकार

समुच्चय का अर्थ समूह है। यह अलंकार दो प्रकार का होता है। जहाँ कार्य-सिद्धि के लिए एक पर्याप्त कारण के होते हुए भी अन्य कारण उसी कार्य-सिद्धि के लिए दिए जायँ वहाँ प्रथम समुच्चय अलंकार होता है और जहाँ कई गुण, क्रिया या गुण-क्रिया का एक साथ वर्णन हो वहाँ द्वितीय समुच्चय होता है।

प्रथम समुच्चय के तीन अवांतर भेद किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं:—

क. सद्योग अर्थात् अच्छे कारणों का योग। जैसे—

गंगा, गीता, गायत्री, गनपति, गुरु, गोपाल।
प्रातकाल जे नर भजैं ते न परैं भव-जाल॥

इनमें एक का भी प्रातःस्मरण भव-जाल को दूर करने के लिए पर्याप्त है पर अनेक का समुच्चय यहाँ कर दिया गया है।

ख. असद्योग अर्थात् बुरे कारणों का योग। जैसे—

'यौवन धन अविवेकता प्रभुता में कोउ एक।
करै अनर्थ, यहाँ सबै रह्यो न कछू विवेक॥'

इनमें एक भी अनर्थ करने के लिए काफी है और यहाँ चार का समुच्चय कर दिया गया है।

ग. सत् तथा असत् दोनों प्रकार के कारणों का योग अर्थात् सदसद्योग। जैसे—

यौवन, विद्या, धन, मदन मद उपजावत आइ।

इसमें मद उत्पन्न करने के लिए एक ही पर्याप्त है पर कई कारण कहे गए हैं। विद्या सत् तथा अन्य असत् हैं।

द्वितीय समुच्चय के गुण, क्रिया तथा गुण-क्रिया के अनुसार तीन उदाहरण क्रमशः दिए जाते हैं।

क. केवल गुण का—

'तरुणि, नेत्र भे लाल तुअ, मलिन भयो मुख पीय।'

इसमें लालिमा तथा मलिनता दो गुणों का योग है।

ख. केवल क्रिया का

तुअ अरि भाजत, गिरत, फिरि भागत हैं सतराइ।

इसमें कई क्रियाओं का योग है।

ग. गुण तथा क्रिया दोनों का साथ साथ—

चकित चितै मुँदरी पहिचानी। हर्ष, विषाद, हृदय अकुलानी॥

इसमें अँगूठी के एकाएक गिरने पर उसे आश्चर्य के साथ देखकर पहिचाना तथा हर्ष और विषाद दोनों से घबड़ा गई।

यहाँ आश्चर्य, हर्ष तथा विषाद गुण हैं और पहिचानी तथा अकुलानी क्रियाएँ हैं। गुण तथा क्रिया का समुच्चय है।

समाधि से प्रथम समुच्चय इस प्रकार भिन्न है कि समाधि में एक काफी कारण होते भी दूसरा कारण बाद में अनायास मिलकर उस कार्य को सुगमता से पूरा कर देता है और समुच्चय में सभी कारण एक साथ मिलकर वह कार्य कर देते हैं।

६२. समाधि अलंकार

समाधि का अर्थ कार्य को अच्छी प्रकार करना है—सम्यक् आधिः (आधानं करणम्) सम्यक् रूप से अर्थात् पूर्ण रूप से कार्य पूरा करना। जहाँ जो कार्य किया जानेवाला हो वह अन्य कारण के आकस्मिक योग से सुगमतापूर्वक पूर्णरूपेण हो जाय वहाँ समाधि अलंकार

होता है। इसे काकतालीय * न्याय कहते हैं। समाधि तथा समुच्चय में जो भिन्नता है वह समुच्चय में दिया जा चुका है। उदाहरण—

मान मिटावन हेतु ज्यों लगे मनावन श्याम।
तौलौं दमकी दामिनी छाए नभ घनश्याम॥

यहाँ मान मिटाना कार्य है और मनावन करने से वह मिट जाता पर अकस्मात् बादल उमड़ने तथा बिजली कड़कने से वह कार्य बड़ी सुगमता से पूर्णरूपेण हो गया। (बिजली की कड़क से भयभीत हो मान का ध्यान छोड़कर वह प्रिय से लिपट गई)।

६३. प्रत्यनीक अलंकार

प्रत्यनीक (प्रति+अनीक) का अर्थ सेना का प्रतिपक्षी या शत्रु-सेना है। स्वभावतः शत्रु के मित्र भी शत्रु ही हैं अतः उन्हें भी हानि पहुँचाना नीति है। इस अलंकार में भी यही भाव रहता है इससे लक्षणा से इस अलंकार का नामकरण प्रत्यनीक किया गया है। जहाँ सामर्थ्यवान् शत्रु को जीतने में योग्य न होने पर उसके दुर्बल मित्र-संबंधी के तिरस्कार करने का कवि-कौशल द्वारा वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। इस अलंकार का प्रयोजन शत्रु का उत्कर्ष वर्णन है। इस अलंकार में शत्रु के मित्र दो प्रकार के होते हैं, एक तो साक्षात्-संबंधी तथा दूसरा परंपरागत-संबंधी।

साक्षात-संबंधी प्रत्यनीक का उदाहरण—

तैं जीत्यो निज रूप तें मदन बैर यह मान।
बेधत तव अनुरागिनी इक सँग पाँचौ बान॥

---

* काकतालीय न्याय का अर्थ है कि कोई ताल का फल तोड़ना चाहता था। इसी समय काक उस वृक्ष पर आ बैठा और उसके द्वारा ताल-फल अचानक टूटकर नीचे आ गिरा। इससे अचानक कार्य हो जाने पर उसे इसी काकतालीय न्याय से हुआ कहते हैं।

यहाँ नायक को जीतने में असमर्थ कामदेव उसीकी प्रेमिका को कष्ट देता है। यहाँ नायक-नायिका का साक्षात् संबंध है।

परंपरागत-संबंधी प्रत्यनीक का उदाहरण—

विष्णु-बदन सम विधुहिं बिचारी। अबहुँ राहु दै पीड़ा भारी॥

विष्णु भगवान ने राहु का शिर काटा था अतः वह राहु के शत्रु हैं और राहु उनका कुछ न कर सकने पर उनके मुख के समान चंद्रमा को उनका हित समझकर अब तक ग्रास किया करता है। यह साक्षात् न होकर परंपरागत है, विष्णु भगवान के हित न होकर उनके मुख से सादृश्य-संबंध रखनेवाले चंद्रमा का तिरस्कार किया गया है।

हेतूत्प्रेक्षा तथा प्रत्यनीक में यही भेद है कि प्रत्यनीक में उत्प्रेक्षा की प्रधानता नहीं रहती प्रत्युत् शत्रु-संबंधी-तिरस्कार ही प्रधान रहता है।

६४. अर्थापत्ति अलंकार

मीमांसा के अनुसार अर्थापत्ति एक प्रकार का प्रमाण है, जिसमें एक बात के कथन से दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। पहिला उपपाद्य तथा दूसरा उपपादक ज्ञान कहलाता है। जैसे, केवल नियमित भोजन करने से रामदत्त खूब स्वस्थ है, इस कथन से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि अनियमित भोजन से स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। न्याय-शास्त्र इसे अनुमान के अंतर्गत मानता है, पृथक् प्रमाण नहीं। आलंकारिकों ने भी उसी उपपाद्य-उपपादक-ज्ञान के अनुसार ही इस अलंकार को माना है। जहाँ एक बात के कथन से दूसरी बात आप से आप सिद्ध हुई कही जाय वहाँ अर्थापत्ति अलंकार होता है। वास्तव में इस अलंकार में यही दिखलाया जाता है कि जब इतनी बड़ी बात इस प्रकार हो गई तब वैसे ही इस छोटी बात की सिद्धि अवश्य ही होगी। जैसे, जो कंकड़ पत्थर पचा सकता है, उसके लिए चबैना क्या है ? इसे ही दंडपूपिका न्याय कहते हैं अर्थात् जो कठिन कार्य कर सकता है उसके लिए सहज कार्य करना कठिन कैसे हो सकता है।

उदाहरण—

मुख जीत्यो वा चंद को कहा कमल की बात !

मुख ने जब उस चंद्रमा को जीत लिया तब कमल उसके आगे क्या है ? यहाँ पहिली बात से अर्थात् चंद्र के विजय करने से दूसरी बात कमल को जीतना स्वतः सिद्ध है।

अनुमान तथा अर्थापत्ति में भिन्नता है। प्रथम में दोनों बातों में संबंध की भावना होना अनिवार्य है, द्वितीय में वैसा नहीं है। अनुमान में व्याप्य तथा व्यापक की एकत्र स्थिति आवश्यक है।

६५. अनुमान अलंकार

अनुमान शब्द अनु+माङ से बना है। अनु का अर्थ पीछे, साथ, सदृश आदि है और माङ का मा या अर्थ नापना है। इससे अनुमान का तात्पर्य हुआ कि दी हुई बात के सदृश अटकल लगाना। अनुमीयते इति अनुमानम्।

न्यायशास्त्र के प्रमाण के चार भेदों में से एक अनुमान है, जिसमें प्रत्यक्ष साधन को देखकर अप्रत्यक्ष साध्य का अटकल या अनुमान लगाया जाय। यह साधन कहीं कारण, कहीं कार्य तथा कहीं नित्य-प्रयुक्त सामान्य व्यापार होता है और इनसे साध्य कार्य, कारण तथा विशेष व्यापार का अनुमान किया जाता है। जैसे बादल को देखकर वर्षा के होने का अनुमान करना। परंतु यह सब अनुमान काव्य का अनुमान नहीं है, कोरी तर्कबुद्धि है। काव्य में साध्य, साधन तथा आनुमानिक ज्ञान सभी उक्ति-वैचित्र्य युक्त चमत्कारपूर्ण होने चाहिएँ तभी वह अनुमान अलंकार हो सकता है। अर्थात् साधन द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्ण ज्ञान कराना अनुमान अलंकार है। पहले तार्किक अनुमान लीजिए—

'इस बिल से भींगे निकले हैं
जलपक्षी अनेक इस काल।
इसमें होगा निश्चय ही कुछ
जल से भरा कूप या ताल॥'

तत्काल जल से भींगे हुए पक्षियों को गुफा में से निकलते देखकर (साधन) उसके भीतर जलयुक्त कूप या सरोवर (साध्य) का ज्ञान अनुमान द्वारा कराया गया है पर यह श्लोकबद्ध होते भी अनुमान मात्र है, इसमें उक्त अलंकार नहीं आया है। अब अनुमान अलंकार का उदाहरण दिया जाता है।

'गोरी बिरहिनि राधिका भई झाँवरी अंग।
निहचै मोहन बसत हिय झलकत ताको रंग॥'

यहाँ वियोगिनी राधिकाजी के शरीर का झाँवरापन (साधन) देखकर उसके हृदय में बैठी हुई कृष्ण की श्यामता (साध्य) अनुमानित की गई है, जिससे वह रंग शरीर के ऊपर झलक उठा है। वास्तव में वियोग-कष्ट से शरीर के गौरवर्ण पर कुछ श्यामता छा गई है पर कवि अपनी उक्ति-वैचित्र्य द्वारा उसका कारण हृदयस्थित श्याम-मूर्ति अनुमान करता है, जिससे तद्गुण अलंकार के अनुसार शरीर का गोरा रंग झाँवरा हो गया है। यहाँ शरीर के गोरे रंग पर श्यामता आ जाना साधन है और हृदय में श्याम-मूर्ति की स्थिति साध्य है, जिसके कारण श्यामता आ गई है। इस अनुमान में तद्गुण अलंकार सहायक है इससे यह तद्गुण मिश्रित अनुमान है।

काव्य में साध्य तथा साधन के क्रम का कोई ऐसा नियम नहीं है कि यह पहिले आवे या वह। कहीं साधन पहिले रहता है, कहीं साध्य।

उत्प्रेक्षा में भी मानो, निश्चय आदि वाचक शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग होता है जिस प्रकार अनुमान में होता है परंतु दोनों में ज्ञान दो प्रकार से होता है। उत्प्रेक्षा का ज्ञान पूर्णतया निश्चयात्मक नहीं होता

पर अनुमान में पूर्ण निश्चय होता है। उत्प्रेक्षा में केवल उपमान तथा उपमेय के साम्य की संभावना मात्र होती है पर अनुमान में उपमिति का अर्थात् साम्य-भाव के बिना ही साध्य-साधन निश्चित किया जाता है। काव्यलिंग से भी यह भिन्न है। कार्य-कारण संबंध दोनों ही में है पर अनुमान का कारण ज्ञापक मात्र है। वास्तव में वह उस कार्य का करनेवाला नहीं है, केवल उसका ज्ञान करा देनेवाला है। जैसे धुआँ अग्नि का कारण नहीं है, धूम से अग्नि पैदा नहीं होती पर धूएँ से अग्नि के होने का ज्ञान अवश्य होता है इसलिए धुआँ ज्ञान का कारण है अर्थात् यह ज्ञापक हेतु है। काव्यलिंग में निष्पादक हेतु होता है।

ख. तर्क-न्याय मूल

६६. काव्यलिंग अलंकार

जहाँ वाक्य या पद के अर्थ द्वारा हेतु भी वर्णित हो वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है। अर्थात् जो कुछ वर्णन का विषय है उसके कारण का अन्य वाक्य या पद द्वारा उल्लेख करते हुए समर्थन किया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। लिंग के अर्थ चिह्न, कारण आदि हैं और इसीके कारण उस काव्य (पद्य) का अर्थ ग्रहण किया जाता है अर्थात् पूर्णरूपेण समझा जाता है अतः इस अलंकार को काव्यलिंग कहते हैं। जैसे,

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात है यह पाए बौराय॥

यहाँ वर्णन केवल इतना ही है कि कनक (सुवर्ण) में कनक (धतूरे) से सौ गुनी मादकता अधिक है। पर प्रश्न होता है कि क्या यह यथार्थ है या योंही कुछ कह दिया गया है। इस पर कवि अपनी

उक्ति के समर्थन में कारण देता है कि वह कैसे ठीक है। वह वस्तु जो केवल पा जाने से मत्त कर दे उस वस्तु से कहीं अधिक नशीली है, जो खाने ही पर मत्त करता है और उसकी उक्ति में वैसी ही दो वस्तुओं की तुलना कर तथ्य बात कही गई है। यहाँ प्रथम पंक्ति साकांक्ष है और बिना दूसरी पंक्ति को साथ में लिए उसका पूरा भाव स्पष्ट नहीं होता। इस उदाहरण में वाक्यार्थ द्वारा हेतु कहा गया है। जहाँ केवल एक पद में (अर्थात् पूरा वाक्य न होते) कारण दिया गया हो वह पदार्थ-हेतु काव्यलिंग कहा जायगा।

हेतु तीन प्रकार का कहा जाता है—१. निष्पादक २. ज्ञापक तथा ३. समर्थक। जिस कारण से कार्य की उत्पत्ति हो वह निष्पादक है, जैसे अग्नि से धूएँ का निकलना। यहाँ धूएँ का वास्तविक कारण अग्नि है पर यदि कहीं दूर पर धूँआ देखकर यह अनुमान किया जाय कि वहाँ अग्नि अवश्य होगी तो उस अग्नि होने के अनुमान का कारण धूँआ ज्ञापक हेतु है। समर्थक हेतु वह है जो प्रथम दो न हो और केवल कारण रूप से किसी कही हुई बात का समर्थन मात्र करता हो। परंतु यह भेद समीचीन नहीं है क्योंकि वह प्रथम के भीतर आ ही जाता है, कार्य-कारण भाव मिट नहीं सकता। दो एक शास्त्रकारों ने केवल इस हेतु को अलग माना है, नहीं तो प्रायः सभी दो ही भेद मानते हैं।

काव्यलिंग तथा परिकर में भेद है। परिकर में विशेषण साभिप्राय होता है, जिसके अर्थ से उक्ति में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। काव्यलिंग में शब्द या वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य की उक्ति का कारण बन जाता है। काव्यलिंग तथा अर्थांतरन्यास में यह भेद है कि द्वितीय में दोनों वाक्य सामान्य तथा विशेष रूप में होते हैं और एक दूसरे का समर्थक होता है पर प्रथम में दोनों वाक्य इस रूप में न होकर कार्य-कारण रूप में होते हैं।

६७. हेतु अलंकार

हेतु का अर्थ कारण है और कारणवश ही कार्य होता है। कारण का फल कार्य है अतः कारण ही के अनंतर कार्य होता है। साधारणतः कारण का पहिले उल्लेख करके उसके फलस्वरूप कार्य का उसके बाद वर्णन किया जाता है। जैसे, बीज बोने से अन्न पैदा होता है। इसमें कारण तथा कार्य क्रम से वर्णित हैं परंतु हेतु के अलंकार होने में उक्ति-वैचित्र्य या कुछ चमत्कार होना आवश्यक है। हेतु दो प्रकार का होता है।

१. जब कारण तथा कार्य का एक साथ होना वर्णन किया जाय। जैसे—

जासु बिलोकि अलौकिक शोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।

यहाँ अलौकिक शोभा देखना कारण है तथा सहज पवित्र मन का क्षुब्ध होना कार्य है और दोनों का क्रमशः एक के बाद दूसरे का होना उचित है पर इसमें दोनों का साथ साथ होना वर्णित है।

२. जब कारण तथा कार्य एक से, विना भेद के, वर्णित हों। जैसे—

मेरी रिद्धि समृद्धि यह तेरी कृपा बखानि॥

इसमें कृपा कारण है और ऋद्धि सिद्धि ऐश्वर्य मिलना उसका कार्य है पर यहाँ कारण ही कार्य के रूप में वर्णन किया गया है अर्थात् कृपा ही समृद्धि है।

सूचना—दंडी आदि कुछ आचार्य हेतु में अलंकारता मानते हैं और कुछ मम्मट आदि नहीं मानते। वे इसे काव्यलिंग के अंतर्गत लेते हैं।

६८. तिरस्कार अलंकार

जहाँ गुणों से युक्त वस्तु का भी उक्ति-वैचित्र्य द्वारा दोष दिखलाकर अनादरणीय या तिरस्कार योग्य वर्णन किया जाय वहाँ तिरस्कार अलंकार होता है। तिरस्कार का अर्थ अनादर है। जो वास्तव में

आदरणीय नहीं है, उसका तिरस्कार करना अलंकार नहीं है प्रत्युत् कारण विशेष से, जो वस्तुतः आदरणीय है उसका अनादर करना अलंकरण है।

उदाहरण—

'परम सनेही होत हू जिनको हरि प्रिय नाहिं।
तिनकों तजिये तुरत ही कोटि बैरि सम आहिं ॥'

यहाँ स्नेही गण अर्थात् मित्रगण आदरणीय हैं पर उनका तिरस्कार इसलिए किया गया है कि वे हरि-भक्त नहीं हैं इसलिए शत्रु के समान त्याज्य हैं।

६९. लेश अलंकार

जहाँ गुण को दोष और दोष को गुण कुछ उक्ति-वैचित्र्य द्वारा कल्पित किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। लेश का अर्थ केवल, तुच्छ, छोटापन है। किसी वस्तु को तुच्छ कर दिखलाना इस अलंकार का ध्येय है इसलिए ऐसा नामकरण हुआ है।

उदाहरण—

१. गुण को दोष

सुक यहि मधुरी बानि तें बंधन लह्यो बिसेष ॥

यहाँ शुक की मधुर वाणी गुण है पर उसके लिए वही गुण दोष होकर बंधन का कारण हो गया।

२. दोष से गुण

कागा परत न बंध में श्रुतिकटु बचन उचारि।

यहाँ कौआ का दोष उसके लिए गुण हो गया कि उसे कोई पिंजड़े में बंद करना चाहता ही नहीं।

७०. अनुज्ञा अलंकार

जहाँ अंगीकार करने के अयोग्य वस्तु को भी विशेष कारणवश

अनुकूल समझकर अंगीकार करना दिखलाया जाय वहाँ अनुज्ञा अलंकार कहा जाता है।

अनुज्ञा (अनु+ज्ञा) का अर्थ अनुकूल ज्ञान, आदेश है। दोष-युक्त वस्तु भी अनुकूल समझी जाकर ग्रहण की जाती है।

उदाहरण—

होहि विपति जामें सदा हियें चढ़ैं हरि आनि ॥

हृदय में सदा भगवान का ध्यान रहे, इसलिए अंगीकार न करने योग्य विपत्ति भी ग्राह्य कही गई है। स्वभावतः विपत्ति में ईश्वर का ध्यान होता है इसीसे उसकी लालसा से विपत्ति बुलाने में भी हिचक नहीं है।

ग. लोक-न्याय मूल

७१. तद्गुण अलंकार

जहाँ एक वस्तु अपने गुण का त्याग कर अपने पास की अन्य वस्तु के उत्कृष्ट गुण को ग्रहण करती हुई वर्णित हो वहाँ तद्गुण अलंकार होता है। वर्ण्य वस्तु (तत्) उसका अर्थात् अन्य का गुण ग्रहण करती है इसलिए इस अलंकार का तद्गुण नामकरण हुआ है। इसमें वर्ण्य वस्तु के पास अन्य वस्तु हो और वह अधिक सबल गुण का हो। वर्ण्य वस्तु अपने गुण का त्याग करे तथा पास की वस्तु का गुण ग्रहण करे। कहीं कहीं दूसरे का गुण ग्रहण करने के अनंतर फिर अपना गुण प्रकट कर देने अर्थात् पूर्वरूप ले लेने पर भी यही अलंकार होता है।

उदाहरण—

'आजु एक ललना जवाहिर खरीदबे कों
आई हुती सुघर सुहाई हाट वारे की।

कर में लिए तें भए मुक्ता प्रवाल जैसे
गुंजा से लखाने फेरि दीठि दृग-तारे की ॥
कहै 'हरिचंद' मोती आप से लखात फेरि
हास को बिलास बढ़्यो सुखमा कतारे की ।
बीजक को मोल घट्यो नफा की चलावै कहा
अकिल हेरानी लखि जौहरी बेचारे की ॥

यहाँ मोती निकटवर्ती हाथ की लालिमा से मूँगा, नेत्र के तारे के कारण 'श्वेत श्याम-रतनार' गुंजा तथा हँसी के कारण श्वेत दंतपंक्ति से फिर मोती पूर्वरूप में दिखलाई पड़ता है।

७२. अतद्गुण अलंकार

तद्गुण का अभाव अतद्गुण है। इसमें अन्य का गुण-ग्रहण नहीं होता। जहाँ निकटवर्ती वस्तु के गुण-ग्रहण करना संभव होते भी वैसा न किए जाने का वर्णन हो वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है। यह अलंकार दो प्रकार से होता है—१. जब अवर्ण्य वस्तु न्यून गुण होते तथा उत्कृष्ट गुणवाले वर्ण्य वस्तु के समीप होते भी उसका गुण ग्रहण नहीं करता और २. जब वर्ण्य वस्तु अवर्ण्य वस्तु का समीप होते गुण ग्रहण नहीं करता। प्रथम का उदाहरण—

पिय अनुरागी ना भयो बसि रागी मन माहिं।

अनुरक्त हृदय में बसने पर भी प्रिय अनुरक्त नहीं हुआ। यहाँ प्रिय अवर्ण्य वस्तु है और वर्ण्य अनुरागिणी का हृदय है। राग शब्द श्लिष्ट है जिसका अर्थ लाली भी है। प्रिय वैसे रागी मन में बसने पर, समीपवर्ती होने पर भी उसके गुण का ग्रहण नहीं करता, जैसा होना संभव था। रागी होना उत्कृष्ट गुण है और इसका असर होना चाहिए था पर नहीं हुआ। अनुरागी न होना अर्थात् लाल न होना 'पिय' की धवलता का द्योतक है, जो रंग के अभाव में न्यून गुण कहा जायगा।

द्वितीय का उदाहरण—

'राजहंस नित रहत है गंग-जमुन की धार।
घटै बढ़ै नहिं सेतता रहै एक अनुहार॥'

यहाँ राजहंस वर्ण्य वस्तु है तथा गंगा-यमुना अवर्ण्य वस्तु हैं। गंगा का श्वेत तथा यमुना का हरित जल का कोई प्रभाव राजहंस की शुभ्रता पर नहीं पड़ता, न उसकी शुभ्रता बढ़ती है और न हरित रंग से घटती है, वह एक सा बना रहता है।

कहा जा सकता है कि ऊपर के दोनों उदाहरण विशेषोक्ति के अंतर्गत आ जाते हैं क्योंकि कारण के रहते कार्य नहीं होता पर ध्यान रखना चाहिए कि इनमें केवल कारण रहते कार्य का अभाव मात्र ही नहीं है प्रत्युत् दूसरे का गुण-ग्रहण, संभव होते, न होना यह विशेष चमत्कार भी है, जिससे इनमें अन्य अतद्गुण अलंकार मानना समीचीन है।

७३. अनुगुण अलंकार

जहाँ अन्य के सामीप्य के कारण किसी वस्तु के निजी गुण का उत्कर्ष अर्थात् आधिक्य होना वर्णन किया जाय वहाँ अनुगुण अलंकार कहलाता है। उपसर्ग अनु का अर्थ समान, वैसा ही है। जैसा गुण है वैसे ही गुण वाले का सामीप्य होने से उस गुण का उत्कर्ष होता है इसी से ऐसा नामकरण किया गया है। विपरीत गुणों का सामीप्य उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकता।

उदाहरण—

१. मुक्तमाल हिय हास तें अधिक सेत ह्वै जाय।

यहाँ मोती की माला की श्वेतता हास (श्वेत) से मिलकर अधिक शुभ्र हो जाती है।

२. 'अविवेकी धनमत्त पुनि प्रभुता हू नहिं थोर।
तापै यौवन सबै मिलि कीन्ह अंध अति जोर॥'

यहाँ स्वभावतः अविवेकी पुरुष ऐश्वर्य, प्रभुत्व तथा यौवन के मिल जाने से अत्यधिक अविवेकी हो गया।

७४. सामान्य अलंकार

सामान्य का अर्थ साम्य या समानता है। जहाँ एक वस्तु का समान गुण के कारण अन्य के साथ इस प्रकार वर्णन किया जाय कि वे भिन्न न ज्ञात हों वहाँ सामान्य अलंकार होता है। इसमें १. प्रत्यक्ष दो वस्तु होते हैं, २. दोनों में समान गुण होता है तथा ३. दोनों सामने रहते हुए भी भिन्न नहीं ज्ञात होते।

उदाहरण—

'सेत पुष्प रचि केस पै अंगन चंदन लाइ।
चली करन अभिसार तिय रजनि चाँदनी पाइ॥'

रात्रि की चाँदनी में मिल जाने के लिए काले बालों को श्वेत पुष्पों से ढँककर तथा सफेद चंदन शरीर पर पोतकर शुक्लाभिसारिका (निःशंक) हो चली क्योंकि उसे अब चंद्र-ज्योत्स्ना में मिल जाने का निश्चय हो गया।

मीलित से सामान्य में यह भेद है कि प्रथम में बलवान गुणवाली वस्तु में दूसरी निर्बल वस्तु तिरोहित सी हो जाती है और भिन्न नहीं ज्ञात होती परंतु दूसरे में दोनों की प्रतीति होते भी समबल होने से वे अलग-अलग नहीं पहिचाने जाते। इसी प्रकार तद्गुण तथा भ्रांति से भी यह भिन्न है।

७५. मीलित अलंकार

मीलित का अर्थ है छिपा लेना। यह मील् धातु से बना है जिसका अर्थ बंद कर लेना है। जहाँ समान धर्मवाली एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु के तिरोधान होने का वर्णन किया जाय वहाँ मीलित अलंकार होता है। समान धर्म रखनेवाली वस्तु का वह धर्म स्वाभाविक या

आगंतुक दोनों हो सकता है। इस अलंकार में दो वस्तुएँ होती हैं, जिनमें एक अधिक प्रबल तथा एक कम प्रबल होती है, दोनों वस्तुओं का एक समान चिह्न या धर्म होता है और इस प्रकार समानधर्मी होने से प्रबल दूसरे को छिपा लेता है।

स्वाभाविक धर्म द्वारा तिरोधान—

अरुन बरन तिय-चरन पर जावक लख्यो न जाय ॥

यहाँ चरणों की स्वाभाविक अरुणिमा में जावक की ललाई छिप गई है। इसमें दो वस्तु चरण तथा जावक हैं, दोनों ही लाल हैं पर प्रथम की लालिमा अधिक है जिससे दूसरी उसीमें छिप जाती है या मिल जाती है।

आगंतुक धर्म द्वारा तिरोधान—

लालों की लाली लसै रोष लख्यो ना जाय ॥

यहाँ माणिक्यों की लाली मुख पर इतनी छाई हुई है कि क्रोध की लालिमा उसीमें छिप गई है और यह नहीं ज्ञात होता कि वह रुष्ट है। मुख की प्रमुख लालिमा आगंतुक है, माणिक्यों के धारण करने से उत्पन्न हुई है।

मीलित भ्रांति से इस तरह भिन्न है कि भ्रांति में एक के स्थान पर दूसरे का भ्रम होता है अर्थात् दोनों उपस्थित नहीं रहते पर मीलित में दोनों के रहते एक दूसरे में छिप जाता है। तद्गुण से मीलित इस प्रकार भिन्न है कि प्रथम में एक अपना गुण त्यागकर दूसरे का गुण ग्रहण कर लेता है अर्थात् दोनों में दो प्रकार के गुण होते हैं और द्वितीय में समान गुण रहते एक का दूसरे में तिरोधान हो जाता है।

७६. उन्मीलित अलंकार

जहाँ एक से अधिक वस्तु समानता के कारण एक में मिल सी जायँ पर कारण विशेष से उनमें भेद की प्रतीति हो जाय वहाँ उन्मीलित

अलंकार होता है। यह मीलित अलंकार का एक भेद मात्र है अर्थात् मिलकर भी भेद की प्रतीति हो जाती है। यदि पृथकता न ज्ञात हो तो मीलित ही रहेगा।

उदाहरण—

चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाय।
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाय॥

यहाँ चंपक का हार चंपकवर्णी सीताजी के अंग में मिल गया, अतः मीलित अलंकार है पर अधिक शोभा पाता है यह कहे जाने से अनुगुण अलंकार हो गया। अब कवि कारण-विशेष मुर्झाना देकर पार्थक्य की प्रतीति भी करा देता है तब उन्मीलित अलंकार हो जाता है।

८७. उत्तर अलंकार

जहाँ उक्ति-वैचित्र्य द्वारा चमत्कारपूर्ण साभिप्राय उत्तर दिया जाय, वहीं यह अलंकार होता है। साधारण प्रश्नों के साधारण उत्तरों में यह अलंकरण नहीं होता। इस अलंकार के तीन भेद होते हैं।

प्रथम उत्तर—जहाँ प्रश्न की कल्पना करके विशिष्ट अभिप्राय से केवल उत्तर कहा गया हो और उसे सुनकर प्रश्न का अनुमान किया जाय। जैसे—

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलति मालती-कुंज॥

इसमें प्रश्न की कल्पना करके अभिप्राय सहित ठहरने के लिए एकांत स्थान बतलाया गया है। विशेष रूप से बिना पूछे ही अपना परिचय देने या स्वयं-दूतिका के वचनों में यह अलंकार पाया जाता है।

द्वितीय उत्तर—जहाँ प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही हों। ऐसा प्रश्नोत्तर एक तथा अनेक भी होता है। अनेक प्रश्नोत्तरी में उत्तरों में दुर्ज्ञेयता होती है। जैसे—

बाल कहा लाली परी लोचन कोयन माँह।
लाल तिहारे दगन की परी दगन में छाँह॥

यहाँ एक ही प्रश्नोत्तर है। कई का उदाहरण—

'का दुर्लभ जग? बंधु हितु, कहा सुक्ख? सत्संग।
सुलभ कहा? है नाम-जप, दुख कहँ? दुर्जन-संग॥'

यहाँ चार प्रश्नोत्तर साथ ही दिए गए हैं।

सूचना—इन दोनों भेदों को गूढ़ोत्तर कहते हैं।

तृतीय उत्तर—जहाँ प्रश्न ही में उत्तर निकले या अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो। इसे चित्रोत्तर भी कहते हैं। जैसे,

१. को है जारत अग्नि बिनु? को रे नेह-बिहीन?

इसमें प्रश्न है कि कौन बिना अग्नि के जलाता है? इसका उत्तर है कोहै अर्थात् क्रोध हो। दूसरा प्रश्न है कि कौन नेह हीन है? उत्तर हुआ कोरे अर्थात् जो स्नेह से कोरे हैं।

२. 'हरि-वाहन है कौन? कौन है पुत्र जलधि को?
भव-सागर को पोत होत है हाथ कौन को?
अति प्रसन्न भव होत आरती काकी करते?
सबको उत्तर दियो एक द्विजराज बिहँसते।'

इसमें एक शब्द द्विजराज का क्रम से गरुड़, चंद्रमा, श्रेष्ठ ब्राह्मण तथा कपूर अर्थ लेकर उत्तर दिया गया है।

७८. पिहित अलंकार

जहाँ किसी आश्रय का एक गुण दूसरे असमान गुण को आच्छादित कर ले पर अन्य द्वारा समझ लिए जाने पर कार्यतः प्रगट कर दिया जाय।

पिहित शब्द का अर्थ आच्छादित है। यद्यपि इस अलंकार में एक गुण दूसरे गुण को, जो ठीक वैसा ही न हो, अपनी प्रबलता से ढँक

लेता है पर वह अन्य द्वारा किसी प्रकार प्रकट कर दिया जाता है। सूक्ष्म अलंकार में एक के संकेत या गुप्त कार्य को समझकर दूसरा युक्ति या संकेत से उत्तर दे या प्रगट कर दे कि वह उस रहस्य को जान गया है। सूक्ष्म में एक ही संकेत या रहस्य होता है जो दूसरे के द्वारा समझ लिया जाता है पर पिहित में एक बात दूसरी असमान बात द्वारा आच्छादित होने पर जान ली जाती है और प्रगट कर दी जाती है। यदि ये दोनों गुण समान हों और एक दूसरे को ढँक लें तब वहाँ मीलित अलंकार हो जाता है तथा कारणवश प्रगट हो जाने पर उन्मीलित अलंकार होता है। जैसे,

'विरह-जनित कृशता सखी ! तन-दुति में छिपि जाइ।'

यहाँ एक ही आश्रय में कृशता तथा द्युति दोनों ही हैं और असमान भी हैं और सखी की उक्ति है कि कृशता शरीर की श्री द्वारा आच्छादित है अर्थात् नहीं ज्ञात होती या कृशता की ओर श्री के आगे दृष्टि ही नहीं जाती पर वह सखी स्वयं इसे जान लेती है। इसमें कृशता और तन-द्युति असमान हैं, पदतल तथा जावक की लाली की तरह समान गुणवाली नहीं हैं अतः मीलित या उन्मीलित अलंकार इसमें नहीं हो सकता। सूक्ष्म भी नहीं हो सकता क्योंकि किसी एक संकेत या रहस्य के समझने की बात इसमें नहीं है।

उदाहरण—

सती कपट जाना सुर-स्वामी
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रणामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥

यहाँ सती का रूप-गुण सीता के रूप-गुण द्वारा आच्छादित हो गया है और उसे समझकर रामचंद्र ने प्रणाम कर प्रगट कर दिया है।

७९. ललित अलंकार

जो कुछ कहना है उसे स्पष्ट न कहकर उसका प्रतिबिंब मात्र कहते

हुए अपना भाव सुचारु रूप से प्रकट कर देना ही ललित अलंकार है। ललित शब्द का अर्थ इच्छित, सुंदर आदि है। जहाँ कहनेवाली बात अप्रिय, गोप्य आदि हो उसे प्रतिबिंब भाव की दूसरी बात, जो सुनने में अप्रिय न हो, कहकर प्रगट किया जाय, वहीं यह अलंकार होता है। यदि कठोर बात दबाकर उससे भी अधिक कठोर बात कही जाय तब यह अलंकार न होगा। इस अलंकरण का ध्येय यही है कि सुननेवाले को कुछ आश्वासन तथा सांत्वना मिले। प्रसन्नता की बात को स्पष्ट कहने में कुछ भी हर्ज नहीं है पर दुःख आदि की बात ही छिपाकर कही जाती है और इसे सुचारु रूप से कहना ही अलंकृति है। यही कारण है कि इसे ललित कहते हैं।

उदाहरण—

लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। विधिगति बाम सदा सब काहू॥

यहाँ कहना तो यह था कि रामचंद्रजी को राज्याभिषेक न होकर उसके विपरीत गृहत्याग की आज्ञा हो गई पर वैसा न कहकर प्रतिबिंब रूप में वही भाव इस प्रकार वर्णन किया कि चंद्रमा लिखने के स्थान पर राहु लिख गया क्योंकि विधिगति सभी के विपरीत होती है। दुःख के विषय को स्पष्ट न कहकर इस प्रकार कहा गया कि कुछ आश्वासन भी मिले। ऐसे कथन का यही लालित्य है।

८०. लोकोक्ति अलंकार

लोकोक्ति का अर्थ प्रचलित कहावत है। जहाँ प्रसिद्ध लोकोक्ति का उचित प्रसंग पर प्रयोग कर चमत्कार उत्पन्न किया जाय वहाँ लोकोक्ति अलंकार होता है। केवल लोकोक्ति के कथन मात्र से अलंकार नहीं हो सकता। जैसे,

ऊधो जी सूधो गहो वह मारग ज्ञात की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानिहै ह्याँ इक स्याम की प्रीति प्रतीति खरी है।

ये ब्रजबाला सबै इक सी 'हरिचंद' जू मंडली ही बिगरी है।
एक जौ होय तो ज्ञान सिखाइए कूपही में यहाँ भाँग परी है॥

यहाँ 'कूँए में भाँग पड़ना' लोकोक्ति है, जिसका भाव यह है, कि जिस सारी मंडली ने उस कुएँ का जल पान किया है उनमें सभी पर एक समान नशा चढ़ा है। वही लोकोक्ति यहाँ प्रयुक्त कर दिखलाया गया है कि सभी ब्रजबालाएँ श्रीकृष्ण के प्रेम में ऐसी एक सा रमी हैं कि उनपर कोई उपदेश प्रभाव नहीं डाल सकता।

घ. गूढार्थ-प्रतीति-मूल

८१. मुद्रा अलंकार

जहाँ किसी पद या पदों से प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त दूसरा सूचनीय अर्थ भी निकले वहाँ मुद्रा अलंकार होता है। मुद्रा शब्द का अर्थ मुहर, नामांकित मुहर की अँगूठी तथा उँगलियों को ध्यान-तप में मिलाकर रखने की विशेष स्थिति है। इस अलंकार में भी दो अर्थ एक दूसरे से मिले हुए रहते हैं इसलिए मुद्रा नामकरण किया गया है।

उदाहरण—

१. अली जाइ किन पीउ तहँ जहाँ रसीली बास।

प्रस्तुत अर्थ है—हे भ्रमर, जहाँ रसीली सुगंध है वहाँ जाकर क्यों नहीं पीता पर साथ ही यह अर्थ भी सूचन करता है कि हे सखी, क्यों नहीं जाती प्रिय वहीं है जहाँ वह रसिका बसती है।

२. कत लपटैयत मो गरे सोन जुही निसि सैन।
जेहि चंपकबरनी किए गुल अनार रँग नैन॥

इस दोहे में प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त मोगरा, सोनजुही आदि पुष्पों के नाम भी निकलते हैं।

८२. रत्नावली अलंकार

जहाँ प्रस्तुत अर्थ के साथ साथ अन्य प्राकरणिक नाम या अर्थ भी प्रसिद्ध क्रम से निकलें। रत्नावली का अर्थ रत्नों की पंक्ति है। एक अर्थ के साथ अन्य प्राकरणिक अर्थ भी रहते हैं इसलिए इसका ऐसा नामकरण हुआ है।

उदाहरण—

रसिक चतुर मुख लक्ष्मिपति सकल ज्ञान के धाम।

यहाँ प्रस्तुत अर्थ है—हे रसिक तुम चतुरों में मुख्य, धनवान तथा पूर्ण ज्ञानी हो। साथ ही त्रिमूर्ति के नाम भी क्रम से निकलते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश।

८३. सूक्ष्म अलंकार

किसी आकार या इंगित द्वारा ज्ञात सूक्ष्म रहस्य को विदग्धतापूर्ण युक्ति से जहाँ सूचित कर दिया जाय वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है। सूक्ष्म का अर्थ है बहुत बारीक, महीन अर्थात् जिसे साधारण बुद्धिवाले न समझ सकें, जिसके समझने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि चाहिए। आकार से तात्पर्य भाव-भंगिमा से है, जो अंग-प्रत्यंग के विशेष संस्थान से होता है। इंगित से चेष्टा या इशारा का तात्पर्य है। सूक्ष्म अलंकार में तीन बातें आवश्यक हैं—१. जिसका रहस्य है वह और उसे जानकर सूचित करनेवाला दो मनुष्य होने चाहिएँ २. आकार या इंगित से रहस्य जान लेना चाहिए और ३. इस रहस्य ज्ञान को ऐसी युक्ति से उस पर सूचित कर दिया जाय कि साधारण लोग समझ न सकें। जैसे,

गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसत पद पानि।
मन बिहँसे रघुवंशमनि प्रीति अलौकिक जानि॥

रामचंद्र के चरण-रज के छू जाने से अहिल्या जी की मुक्ति हो गई थी इसे ध्यान में रखकर जब सखियों ने सीताजी से रामचंद्र का चरण

स्पर्श करने के लिए कहा तब उन्होंने पैर नहीं छुए, चुप खड़ी रह गईं। उनका विचार मुक्त होने का न था प्रत्युत् प्रेमाधिक्य के कारण वह सदा रामचंद्र के साथ रहना चाहती थीं और इसीसे न पैर छूकर चुप खड़ी रह गईं। आकार से रामचंद्र ने उनके हृदयस्थ अनुपम प्रेम को समझ लिया और हँस दिए।

८४. व्याजोक्ति अलंकार

व्याज का अर्थ कपट है और कपटपूर्ण उक्ति व्याजोक्ति है। किसी प्रकार गुप्त बात के प्रकट हो जाने पर जहाँ उसे कपट से छिपाया जाय वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है। इसमें कुछ गुप्त रहस्य होना चाहिए, किसी प्रकार वह प्रकट हो जाय तथा उसे छिपाने के लिए वास्तविक कारण छोड़कर अन्य कारण बतलाया जाय। जैसे,

शिवा बैर औरँग-बदन लगी रहै नित आह।
कवि 'भूषण' बूझे सदा कहै देत दुख साह॥

यहाँ शिवाजी की शत्रुता के कारण औरंगजेब दुखी रहता है, यह रहस्य मुख से आह निकल जाने से खुल जाता है और पूछे जाने पर कपट से (निजाम) शाह के द्वारा दुख पाने की बात कहकर वास्तविक रहस्य छिपाया गया है।

८५. गूढ़ोक्ति अलंकार

गूढ़ का अर्थ गुप्त है और गूढ़ोक्ति का अर्थ हुआ वह बात जो गूढ़ हो और जिसे समझदार ही समझ सके। जहाँ किसी अन्य के उद्देश्य से कही जानेवाली बात दूसरे के प्रति कही जाय वहाँ गूढ़ोक्ति अलंकार होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिससे वास्तव में कोई बात कहना है वही वहाँ अकेला है नहीं और उससे कहने से बात छिपी न रहेगी अतः वह किसी तीसरे को सुनाकर कही जाती है पर जिसके उद्देश्य से कही जाती है वह समझ लेता है। जैसे,

कािल्ह सखी हौं जाउँगी पूजन देव महेस ।

अपनी सखी को सुनाकर कहा गया है कि कल महादेव का पूजन करने जाऊँगी । जिसके उद्देश्य से यह कहा गया है वह समझ जाता है और दूसरे इसे केवल साधारण बात समझते हैं ।

८६. विवृतोक्ति अलंकार

(विवृत+उक्ति=विवृतोक्ति) विवृत का अर्थ व्याख्या या टीका की हुई और उक्ति का अर्थ है बात । जहाँ रहस्य की बात को स्वतः स्पष्ट कर दिया जाय वहाँ विवृतोक्ति अलंकार होता है । इसमें पहिले उक्ति-चातुरी से कुछ गूढ़ बात कही जाती है और फिर उसे खोल दिया जाता है । जैसे,

'जो गोरस चाहत लयो सो न मिलै यहि ठाम ।
यासों है हरि प्राणधन तुम आवहु मम धाम ॥'

यहाँ गोरस में श्लेष है और पहिली पंक्ति में रहस्य की बात है पर उसे आगे अपने घर निमंत्रित कर स्पष्ट कर दिया गया है ।

८७. मिथ्याध्यवसिति अलंकार

जहाँ एक मिथ्या बात को सिद्ध करने के लिए दूसरी मिथ्या बात की कल्पना की जाय वहाँ मिथ्याध्यवसिति अलंकार होता है । मिथ्या का अर्थ झूठा है और अध्यवसिति का अर्थ प्रयास है । जिस प्रकार की मिथ्या बात को सिद्ध करना है वैसी ही मिलती जुलती अन्य मिथ्या बात की कल्पना होनी चाहिए, नहीं तो प्रयास व्यर्थ जाएगा और यह अलंकार न सिद्ध होगा ।

उदाहरण—

तेरो कुजस सुनाइबे बधिरन बसुधा, वीर ।
गावत गूँगो कछुक पी दूध-उदधि के तीर ॥

यहाँ वीर का कुयश होना मिथ्या सिद्ध करने के लिए गूँगे का

क्षीर-सागर के किनारे कुछ पीकर गाना दूसरी मिथ्या बात कल्पित की गई है।

[सूचना—कुछ मत ऐसा भी है कि यह स्वतंत्र अलंकार नहीं है पर इसमें कुछ नवीनता है, इससे इसे अलग अलंकार मानने में कोई अनौचित्य नहीं है।]

---

५. वर्णन-वैचित्र्य-प्रधान

८८. स्वभावोक्ति अलंकार

जहाँ किसी की चेष्टा या विशेषता का स्वाभाविक सत्य वर्णन चमत्कारक रूप में किया जाय वहीं यह अलंकार होता है। जब तक उक्ति-वैचित्र्य न हो या वर्णन में कोई चमत्कार न हो तब तक केवल ज्यों का त्यों सत्य कथन अलंकार नहीं होता। इसमें वर्णन सुंदर होना चाहिए, किसी की क्रिया या स्वरूप का वर्णन हो, उस वर्ण्य वस्तु की विशेषता प्रगट करे तथा वर्णन सत्य हो। उदाहरण—

१. हँसि हँसि देखति फिरि झुकति मुँह मोरति इतराइ।

यहाँ किसी चंचला युवती की सहज चेष्टा का सुंदर वर्णन है।

२. महापरिध सम दोउ भुजान कहँ पुनि जमकायो।
चरनन को बल दियो कमर पै अरु उचकायो॥
तैसेइ बाहु और ग्रीवहिं संकोचित करिकै।
तेज पराक्रम बल सों बली सरीरहिं भरिकै॥
निज गमन मारगहिं दूर सों देखि लग्यो ऊपर लखन।
हिय के मधि प्रानहिं रोकि पुनि नभ के दिसि फेरयो नयन।

यहाँ हनुमानजी के समुद्र-संतरण के पहिले की तैयारी का स्वाभाविक सुंदर चमत्कारपूर्ण वर्णन है।

८९. भाविक अलंकार

जहाँ भूतकाल या भविष्यत् काल की बातों का इस प्रकार वर्णन किया जाय कि उसका प्रत्यक्ष (वर्तमान) सा अनुभव किया जा सके वहाँ भाविक अलंकार होता है।

भाविक शब्द भाव+इक से बना है और इसका अर्थ प्रकृत, भाव संबंधी तथा भविष्य है। इसमें भूतकालीन तथा भविष्य में होनेवाली बातों का इस भाव से वर्णन होता है कि मानों वे वर्तमान काल की हों। उदाहरण—

१. भूत-कालीन—

जाकी छबि कों देखिकै मनहिं होत बिसराम।
चित्रकूट में जानिये अबहूँ राजत राम॥

२. भविष्यकालीन—

कही जाय क्यों अलि भली छबि प्रति अंग अनूप।
भावी भूषन-भार हू लखत अबहि तव रूप॥

९०. उदात्त अलंकार

जहाँ लोकोत्तर समृद्धि का वर्णन हो या महान् पुरुषों का चरित्र वर्ण्य वस्तु का अंग मात्र हो वहाँ उदात्त अलंकार होता है।

उदात्त शब्द का अर्थ (उद+आत्त) उच्च, श्रेष्ठ, विशद, दयावान आदि है। तात्पर्य यह है कि वर्णन संपत्ति को लेकर इतना उदात्त हो कि लोक में संभाव्य न हो अर्थात् लोकोत्तर हो तथा महान् पुरुषों का उच्च चरित्र वर्णनीय वस्तु का अंग मात्र होकर उसकी लोकातिशयता प्रगट करे। इस प्रकार उदात्त के दो भेद हुए, एक संपत्ति को लेकर तथा दूसरा महान् आत्माओं के चरित्र को अंगभूत बनाकर। वास्तव में ये एक ही नामधारी दो अलंकार हैं और इसीलिए दो भेद मान लिए गए हैं।

उदाहरण—

१. संपत्ति की अतिशयता—

जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा॥

यहाँ समृद्धि का लोकोत्तर वर्णन है कि देवराज इंद्र उस नगर के साधारण नीच के गृह की संपत्ति को देखकर मोह में पड़ गए तब सारी नगरी के ऐश्वर्य का क्या वर्णन किया जा सकता है।

२. महत्पुरुष की उपलक्षणता—

भूषित शंभु स्वयंभु सिर जिनके पद की धूर।
हठ करि पाँव झँवावती तिन सों तिय मगरूर॥

यहाँ जिनके पद-रज को शिव तथा ब्रह्मा शिर पर धारण करते हैं, इस कथन से उन ब्रजबालाओं की महत्ता का उत्कर्ष दिखलाया गया है, जो हठ करके स्वयं उनसे अपने पैर झँवाती हैं।

९१. प्रहर्षण अलंकार

जहाँ कुछ उक्ति-वैचित्र्य से अत्यधिक हर्ष प्रकट किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। प्र उपसर्ग का अर्थ प्रकृष्ट है। इसके तीन भेद हैं—

१. प्रथम प्रहर्षण—जहाँ बिना प्रयत्न किए ही ईप्सित वस्तु या फल की प्राप्ति हो जाय।

उदाहरण—

'चाहत ही बसुदेव के खुले आपु सब द्वार।
बंधन हूँ सब खुलि गए निद्रित भे रखवार॥'

यहाँ कैदखाने से निकलने की इच्छा करते ही बिना प्रयत्न के सब रुकावटें दूर हो गईं।

२. द्वितीय प्रहर्षण—जहाँ बिना प्रयत्न के ईप्सित वस्तु से अधिक की प्राप्ति हो जाय।

उदाहरण—

दीपक को उद्यम कियो तौ लौं उदयो भानु।

यहाँ प्रकाश के लिए दीपक बालने की तैयारी की गई तब से सूर्योदय ही हो गया।

३. तृतीय प्रहर्षण—जहाँ ईप्सित वस्तु की प्राप्ति के लिए उपाय की खोज करते हुए वही वस्तु मिल जाय।

उदाहरण—

'हरिहिं बुलावन राधिका चली सखी के गेह।
मारग ही में हँसत प्रिय मिलि गे भरे सनेह॥'

यहाँ श्रीराधिकाजी सखी के गृह जा रही थीं कि उसे भेजकर श्रीकृष्ण को बुलवावें पर वह बीच ही में मिल गए।

९२. विषादन अलंकार

जहाँ इच्छित वस्तु के विरुद्ध फल मिले या कार्य विपरीत हो जाय वहाँ यह अलंकार होता है। विषाद का अर्थ दुःख है और इच्छा के विरुद्ध कुछ होने पर दुःख होता है इसीसे इस अलंकार का यह नाम हुआ।

उदाहरण—

'निसि बीते खिलिहै कमल उड़िहौं होत प्रभात।
सोंचत यों अलि कोष गत तोरयो करि जलजात॥'

यहाँ यह इच्छा हो रही थी कि सबेरा होते ही कमल खिल जायगा तब उड़ जाऊँगा पर इसके विपरीत हाथी ने कमल को तोड़कर फेंक दिया जिससे ईप्सित फल के विरुद्ध प्राप्ति हुई।

९३. उल्लास अलंकार

जहाँ एक के गुण या दोष से दूसरे में गुण या दोष का हो जाना

दिखलाया जाय वहाँ उल्लास अलंकार होता है। उल्लास शब्द का अर्थ प्रसन्नता, प्रकाश आदि है। जिस प्रकार प्रकाश अन्य वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार इस अलंकार में भी होता है। इसके चार भेद किए गए हैं—गुण से गुण, गुण से दोष, दोष से गुण या दोष से दोष।

उदाहरण—

१. गुण से गुण की प्राप्ति—

शठ सुधरहिं सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥

यहाँ सत्संग गुण से शठ का सुधरना गुण प्राप्ति है।

२. गुण से दोष की प्राप्ति—

चंद अलोक तें लोक सुखी पै कोक अभागे को शोक न छूट्यो॥

यहाँ चाँदनी गुण से शोक दोष ही की प्राप्ति है।

३. दोष से गुण—

दुष्ट करैं उपहास हितहि होत मम जानिए।

यहाँ दुष्टों के उपहास रूपी दोष से हित होना गुण प्राप्ति है।

४. दोष से दोष—

दूध कलारी हाथ लखि मद समुझै सब ताहि।

यह कलारी दोष के संबंध से दूध में मद होना दोष आ गया।

९४. अवज्ञा अलंकार

जहाँ एक के गुण या दोष के संसर्ग से दूसरे में गुण या दोष न आने का वर्णन किया जाय वहाँ अवज्ञा अलंकार होता है। किसी के गुण या दोष को न ग्रहण करना ही उसका अनादर या अवज्ञा करना है, इसीसे इसका इस प्रकार नामकरण हुआ है। इसके दो भेद हैं—गुण से गुण-ग्रहण न करना तथा दोष से दोष।

उदाहरण—

१. गुण से गुण—

परसि सुधाकर किरन कों खुल्यो न पंकज कोष ।

चंद्र-किरणों के स्पर्श होने पर भी कमल का कोष नहीं खुला ।

२. दोष से दोष—

चंदन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग ।

चंदन भुजंग के दोष को ग्रहण नहीं करता ।

---

६. मिश्र अलंकार

जब एक से अधिक अलंकार—शब्द या अर्थ—आपस में मिल गए हों तब वहाँ दो प्रकार के मिश्र अलंकार होते हैं—संसृष्टि तथा संकर । जिस प्रकार शरीर पर धारण करनेवाले एक से अधिक अलंकारों के मेल से उनमें नया सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार काव्य के इन अलंकारों में भी होता है ।

९५. संसृष्टि

संसृष्टि का अर्थ संसर्ग, संग, साथ है अर्थात् जब दो या अधिक अलंकार निरपेक्ष भाव से निजी रूपों में एक साथ मिले हुए हों वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है । जिस प्रकार तिल तथा चावल एक में मिल जाने पर भी अपने अपने निजी रूपों में अलग रहते हैं उसी प्रकार इस संसृष्टि में अलंकार गण रहते हैं । केवल शब्दालंकारों की या अर्थालंकारों की या एक शब्दालंकार तथा एक अर्थालंकार की संसृष्टि होने से इसके तीन भेद किए गए हैं । उदाहरण—

१. शब्दालंकार संसृष्टि—

'मलय सुगंध भार से धीमी सागर उर पर अठिलाती ।
सरसिज भरे जलाशय ऊपर लोल लहरियाँ लहराती ।।'

इसमें लहर की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास और स, र आदि वर्णों की कई बार आवृत्ति से वृत्यनुप्रास है। दोनों की निरपेक्ष भाव से संसृष्टि है।

२. अर्थालंकार संसृष्टि—

नील सरोरुह श्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा क्षीरसागर सयन॥

इसमें प्रथम दो चरणों में उपमाएँ और चौथे में पर्यायोक्ति है। दोनों अलंकारों की एक दूसरे के सापेक्ष न होने से संसृष्टि है।

३. उभयालंकार संसृष्टि—

'खान निमक में जाइ गिरि सबै निमक है जाइ।
त्यों ऊधो तव योग हू भयो वियोग सुहाइ॥'

इसमें निमक, जाइ तथा योग की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास तथा अर्थांतरन्यास की संसृष्टि है।

९६. संकर अलंकार

जहाँ एक से अधिक अलंकार इस प्रकार मिल गए हों कि नीर-क्षीर के समान अलग न जान पड़ें वहाँ संकर अलंकार होता है।

संकर का अर्थ मिश्रित है। ये अलंकार इस प्रकार मिले हुए होते हैं कि कभी एक दूसरे पर आश्रित होता है, कहीं संदेह होता है कि इन दो में कौन अलंकार है यह या वह और कभी एक ही आश्रय में कई अलंकार होते हैं। इस कारण संकर अलंकार के तीन भेद होते हैं—अंगांगी भाव, संदेह तथा एकवाचकानुप्रवेश।

१. अंगांगीभाव संकर अलंकार—जहाँ कई अलंकार एक दूसरे के आश्रित हों वहाँ यह संकर होता है। जिस प्रकार शरीरी तथा शरीर का संबंध है वैसा ही अलंकारों का भी इसमें संबंध रहता है चाहे उसमें एक प्रधान तथा अन्य गौण हों या दोनों ही सम हों। इसमें का एक

अलंकार दूसरे का उपकारक होता है, एक के बिना दूसरा सिद्ध ही नहीं हो सकता।

उदाहरण—

तुव अरि तिय गन बन भजत लूटीं सब बटमार।
अधर बिंब-दुति गुंज गुनि हरे न मुकता-हार॥

इसमें अधर की लाली पड़ने से श्वेत मोती लाल गुंजा से लगने लगे और इस कारण बटमारों ने मोतियों को गुंजा के भ्रम से नहीं लूटा। इस प्रकार मुक्ता का लाल होना तद्गुण अलंकार और मुक्ता में गुंजा का भ्रम होना भ्रांति अलंकार दोनों ही एक साथ सापेक्ष होकर आए हैं। प्रथम के बिना दूसरा सिद्ध नहीं होता और दूसरे से प्रथम का चमत्कार बहुत बढ़ जाता है। प्रथम प्रधान है तथा दूसरा गौण है पर दोनों ही एक दूसरे के उपकारक हैं। प्रथम अंगी है तो दूसरा अंग है।

२. संदेह संकर अलंकार—जहाँ एक से अधिक अलंकारों के होने पर यह निश्चय न हो सके कि कौन अलंकार ग्राह्य है वहाँ संदेह संकर होता है।

दो या अधिक अलंकारों के एकत्र होने पर साधक या बाधक के अभाव में किसी एक अलंकार का निर्णय न हो सके अर्थात् यह निश्चयपूर्वक न कहा जा सके कि यह अलंकार है या वह, वहीं संदेह संकर होता है। जैसे, मुखचंद्र की श्री देखने ही योग्य है। इसमें यह नहीं कहा जा सकता कि चंद्र के समान मुख की श्री या मुखरूपी चंद्र की श्री दर्शनीय है अर्थात् उपमा है या रूपक। पर यदि कहा जाय कि मुखचंद्र की वाणी श्रवणीय है तब यहाँ बोलना मुख का ही काम है चंद्र का नहीं। अतः यह उपमा का साधक है और रूपक का बाधक है। साधक वह है जो किसी अलंकार को निर्णीत करने में सहायक हो और जो ऐसा करने में बाधा दे अर्थात् प्रतिकूल हो वही बाधक है।

उदाहरण—

नयनानँददायी लसत गगन बीच यह चंद।
करत दूर संतत तमहिं निर्मल अवर अमंद॥

इसमें मुख का चंद्र में अध्यवसाय करके कथन करने से अति-शयोक्ति है या 'यह' से मुख का निर्देश कर चंद्रत्व का आरोप करने से रूपक है या मुख तथा चंद्र दोनों को प्रकृत मानकर एक धर्म के संबंध से तुल्ययोगिता है या मुख तथा चंद्र को प्रकृत तथा अप्रकृत मानकर एक धर्म के संबंध से दीपक है इत्यादि कई अलंकारों का संदेह है।

३. एकाश्रयानुप्रवेश या एकवाचकानुप्रवेश संकर अलंकार—जहाँ एक ही आश्रय में एक से अधिक अलंकार स्पष्टतः स्थित हों वहाँ यह अलंकार होता है। इसमें आश्रय से पद का अर्थ लेना चाहिए। यदि एक छंद के विभिन्न पदों में एक से अधिक अलंकार हों तो वहाँ संसृष्टि अलंकार होगा।

उदाहरण—

हे हरि दीनदयाल प्रभु हौं माँगौं सिर नाय।
तुव पद-पंकज सरन में मन-मधुकर लगि जाय॥

यहाँ तृतीय पद में पद-पंकज तथा चतुर्थ में मन-मधुकर में प तथा म का क्रमशः अनुप्रास है और दोनों ही में रूपक है अतः अनुप्रास तथा रूपक का संकर है।

---

७. शब्दालंकार

९७. वक्रोक्ति अलंकार

जहाँ किसी के द्वारा कही हुई बात का सुननेवाला श्लेष या काकु-उक्ति से दूसरा अर्थ कल्पित कर ले वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।

कहनेवाला अनेक अर्थवाची श्लिष्ट शब्द का प्रयोग एक अर्थ लेकर करता है और सुननेवाला उसका दूसरा अर्थ लेकर तात्पर्य लगाता है। कभी-कभी कहनेवाला अपनी बात ऐसे स्वर या ढंग में कहता है कि उसकी कही हुई बात का विपरीत अर्थ श्रोता के हृदय में बैठ जाता है। इसीको काकूक्ति कहते हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति के दो भेद हुए—श्लेष-वक्रोक्ति तथा काकु-वक्रोक्ति।

श्लेष में शब्द या पद के एक से अधिक अर्थ लिए जाते हैं। जब पूरे शब्द या पद के दो अर्थ होते हैं तब उसे अभंग श्लेष कहते हैं और जब उस शब्द या पद को तोड़कर अन्य अर्थ लगाया जाता है तब उसे सभंग श्लेष कहते हैं। जैसे माधव शब्द के कृष्ण, वैशाख आदि अनेक अर्थ हैं और इनके भिन्न भिन्न अर्थ लेने में शब्द को तोड़ना नहीं पड़ता इसलिए अभंग है पर यदि इसीको मा+धव दो टुकड़ा कर अर्थ लिया जाय तो सभंग हो जायगा।

[सूचना—श्लिष्ट शब्द का कोई अन्य पर्याय दे देने पर यह अलंकार नहीं रह जाता अतः यह अलंकार, श्लेष वक्रोक्ति, शब्दालंकार है।]

१. उदाहरण (अभंग श्लेष)—

'को हौ ? हौं हरि, तौ भलैं बसौ पहारनि जाइ।
हौं घनश्याम, तौ जाइकै बरसौ नभ मैं छाइ॥'

यहाँ हरि तथा घनश्याम का श्रीकृष्ण अर्थ न लेकर क्रमशः सिंह तथा बादल का अर्थ लिया गया और तदनुकूल उत्तर दिया गया। दोनों शब्दों को तोड़ना नहीं पड़ा अतः अभंग श्लेष-वक्रोक्ति है।

२. उदाहरण (सभंग श्लेष)—

वातनि क्यों देखै नहीं ? पवन देखि कत जाय ?
वनमाली कों देखि लै, नहीं हार की चाय॥

यहाँ 'वातनि' को भंग कर वा+तनि=उसकी ओर तथा पवन

दो अर्थ लिए गए हैं। इसी प्रकार वनमाली का श्रीकृष्ण तथा वन का माली अर्थ लिया गया है इसलिए सभंग श्लेष है।

३. उदाहरण (काकु)—

कह कपि धरमसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परतिय-चोरी॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुँ बड़भागी॥

इसमें अंगद ने रावण से जो कुछ कहा है, उसके ठीक विपरीत उनका तात्पर्य है। परस्त्री का चोर होने पर भी तुम्हारी धर्मशीलता अर्थात् अधर्मशीलता संसार में प्रसिद्ध हो गई और तुम्हारा दर्शन पाकर हम भी बड़े भाग्यवान हो गए।

९८. अनुप्रास

यह शब्द अनु+प्र+अस् या आस से मिलकर बना है। अनु के अनेक अर्थ होते हैं पर यहाँ समता, वैसा ही, पास-पास, आगे अर्थ ही लागू होगा। प्र का भी यहाँ प्रकर्ष या आगे अर्थ समीचीन है। अस् का अर्थ होना है और आस का रखना। तात्पर्य यह कि अनुप्रास का अर्थ हुआ प्रकर्षता से पास-पास होना या रखना। कविता में स्वर की विषमता होते भी वर्णों में साम्य हो अर्थात् वे ही वर्ण पास-पास अनेक बार आकर पद की शोभा वृद्धि करें तब अनुप्रास अलंकार होता है। केवल स्वर-साम्य में यह अलंकार नहीं होता पर वर्ण-साम्य में होता है। हाँ, यदि दोनों के सम्मिलित रूप में साम्य हो तो शोभा अधिक ही होगी। यह अनुप्रास का सामान्य लक्षण है। अनुप्रास के पाँच भेद होते हैं।

१. छेकानुप्रास—

छेक शब्द का अर्थ नागरिक तथा चतुर है। चातुर्यपूर्ण अनुप्रास छेकानुप्रास है। व्यंजन-समूह अर्थात् एक से अधिक व्यंजनों की एक बार उसी क्रम से पुनरावृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं। जैसे 'रस सर'

में यह अनुप्रास वर्णों के उसी क्रम से न होने के कारण नहीं है पर 'सर सर' में यह अनुप्रास है। एक वर्ण की आवृत्ति में यह अनुप्रास नहीं माना जाता क्योंकि तब क्रम से होना कहा जाना अनर्गल हो जाएगा और 'रस सर' में भी यह अनुप्रास मानना पड़ेगा। एक वर्ण की आवृत्ति वृत्यनुप्रास के अंतर्गत आती है।

क. उदाहरण—(स्वर साम्य)

जन-रंजन भंजन दनुज मनुज-रूप सुरभूप।

इसमें 'जन' की रंजन भंजन और 'नुज' की दनुज मनुज में एक एक बार आवृत्ति है। इन दोनों में वर्ण तथा स्वर दोनों का साम्य है।

ख. उदाहरण—(स्वर-वैषम्य)

चंद्र चंद्रिका तैं अधिक मुख पै सरसत ओप।

यहाँ चंद्र की स्वर-वैषम्य रहते चंद्रिका में आवृत्ति है।

२. वृत्त्यनुप्रास—

रसों के अनुकूल वर्णों के प्रयोग किए जाने के कुछ नियम हैं और ऐसी नियमबद्ध रचना को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति तीन प्रकार की होती है—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। इन तीन वृत्तियों के अनुसार इस अनुप्रास के तीन भेद होते हैं। एक या अनेक वर्णों की, वृत्तियों के अनुकूल, कई बार केवल स्वरूप ही से या स्वरूप तथा क्रम दोनों से आवृत्ति होने पर यह अनुप्रास होता है। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि वर्ण क्रम ही से आवें पर क्रम से यदि हों तो और भी अच्छा है। एक वर्ण की एक बार आवृत्ति होने पर भी यही अनुप्रास होता है।

अ.—उपनागरिका वृत्ति में कर्ण-मधुर वर्णों ही का प्रयोग रचना में किया जाता है। कर्णकटु ट वर्गीय वर्ण या द्वित्व या संयुक्त वर्ण छोड़ दिए जाते हैं और प्रायः समास नहीं रहते। सानुनासिक वर्ण तथा छोटे समास रहते हैं।

उदाहरण—

धरमधुरीन धीर नयनागर। सत्य सनेह सील सुखसागर॥

यहाँ ध की तीन बार, न की तीन बार, र की चार बार और स की पाँच बार आवृत्ति हुई है।

आ.—परुषा वृत्ति में कर्णकटु वर्णों का, ट वर्गीय, द्वित्व तथा संयुक्त अक्षरों का प्रयोग ओज लाने के लिए विशेष होता है। लंबे समास भी रहते हैं।

उदाहरण—

कोकिल-चातक-भृंग-कुल केकी कठिन चकोर।
सोर सुन्यो धरक्यो हियो काम-कटक अति जोर॥

इसमें लंबा समास, ट, ठ तथा संयुक्त अक्षरों का प्रयोग और क, स, र वर्णों की कई बार आवृत्ति है।

ई. कोमलावृत्ति में माधुर्य तथा ओज के उपयुक्त वर्णों के सिवा अन्य वर्णों का समासरहित या छोटे समासों से युक्त प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण—

घन बरसै दामिनि लसै दस दिसि नीर-तरंग।
दंपति हीय हुलास तें अति सरसात अनंग॥

इसमें समास नहीं है, स, द, र, ह, त की आवृत्ति है। इन तीन वृत्तियों को क्रम से वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली भी कहते हैं।

३. लाटानुप्रास—

शब्द तथा अर्थ दोनों की आवृत्ति होते हुए भी तात्पर्य भिन्न हो तब लाटानुप्रास होता है। इसमें एक शब्द या कई शब्दों के एक पद की आवृत्ति होती है और अर्थ में भी भिन्नता नहीं होती। केवल तात्पर्य या भाव में भिन्नता रहती है। जैसे, (पूरे पद की आवृत्ति)

पीय निकट जाके, नहीं घाम चाँदनी आहि।
पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी आहि॥
(भाषा भूषण)

यहाँ कुल पद की उसी अर्थ में आवृत्ति है पर अन्वय-भेद से तात्पर्य भिन्न हैं। जिसका प्रिय पास है उसके लिए घाम न होकर, तापकारक न होकर, चाँदनी है पर जिसका प्रिय पास नहीं है उसके लिए चाँदनी भी घाम (तापकारक) है।

उदा० (एक शब्द की आवृत्ति)

करुनाकर करुना करहु हरहु नाथ भव-भीर।

इसमें 'करुनाकर' शब्द की उसी अर्थ में पुनरुक्ति है पर दोनों में अन्य शब्द के संबंध से तात्पर्य में भिन्नता है।

४. श्रुत्यनुप्रास—

तालु, कंठ आदि एक एक स्थान से जिन वर्णों का उच्चारण होता है उनकी आवृत्ति को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। ऐसे अनुप्रास में मधुरता तथा प्रवाह विशेष होता है। जैसे—

तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई॥

इसमें त, द, न दंत्य और ल, स तालव्य हैं।

५. अंत्यानुप्रास—पद या चरण के अंत में पहिले पूर्व स्वर के साथ यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति होने पर अंत्यानुप्रास होता है। इसे तुकांत भी कहते हैं। प्रत्येक छंद में चार चरण होते हैं और चारों के अंतिम अक्षर तुकांत कहलाते हैं। यथावस्थ से यह तात्पर्य है कि व्यंजन स्वर, अनुस्वार तथा विसर्ग सहित पूर्ववत् ही होना चाहिए। हिंदी कविता के चरण या पाद में ये तुकांत कई प्रकार से आते हैं। जैसे—

क. सर्व+अंत्य—चारों चरणों का अंत या तुकांत एक सा हो। सवैया, कवित्त आदि में ऐसा ही होता है।

ख. सम-विषम+अंत्य—पहिले तथा तीसरे और दूसरे तथा चौथे

चरणों में या पहिले-दूसरे तथा तीसरे-चौथे में तुकांत एक हो। दोहा, सोरठा आदि में पहिला होता है और चौपाई में दूसरा होता है।

उदा०—जेहि सुमिरत सिधि होय गननायक करिवर वदन।
करहु अनुग्रह सोय बुद्धिरासि सुभगुन सदन॥

ग. सम + अंत्य—केवल दूसरे तथा चौथे में तुकांत एक हो। यह दोहे में होता है।

उदा०—'मानस भोजन से भरे नहीं पेट साकार।
यातें खाय अघायकै भजौ खूब निरकार॥'

घ. विषम + अंत्य—केवल प्रथम तथा तृतीय में तुकांत हो। ऐसा सोरठे में होता है।

उदा०—'चंचल भौंह कमान चपल चुकैं नहिं नयनसर।
वेधत चल चित आन कमनैती सीखी कहाँ !'

गेय पदों में भी यह अनुप्रास होता है।

९९. यमक अलंकार

स्वर-व्यंजन समूह की, अर्थ-युक्त होने पर भिन्न-भिन्न अर्थ में, उसी क्रम से आवृत्ति होने पर यमक अलंकार होता है। इस परिभाषा में केवल वर्ण या अक्षर न कहकर स्वर-व्यंजन-समूह इसलिए कहा गया है कि जिन वर्णों की आवृत्ति होती है वे उन्हीं स्वरों से संयुक्त हों जो पहिले में आया हो। जैसे, बारन, बीरन में केवल रन की आवृत्ति मानी जायगी और यदि बीरन बीरन या बारन बारन हो तो तीन वर्णों के समूह की आवृत्ति कही जायगी। अर्थ-युक्त कहने से यह तात्पर्य है कि पूरे निरर्थक वर्ण-समूह या कुछ अंश के निरर्थक होने पर भी उनकी आवृत्ति में यह अलंकार होता है पर जब वे सार्थक हों तो उस अवस्था में उनके अर्थों का भिन्न होना आवश्यक है। 'उसी क्रम से' स्वर सहित वर्णों की आवृत्ति होना भी आवश्यक है, जैसे रस सर में यमक नहीं है, सर सर में है। इस प्रकार वर्णों का प्रयोग इस अलंकार में तीन प्रकार से होता है—

१. निरर्थक वर्णों की एक या अनेक बार आवृत्ति हो। जैसे, 'पुष्प-राजि पराजित' में पराजि की एक आवृत्ति है और दोनों निरर्थक हैं।

२. एक बार निरर्थक तथा दूसरी बार सार्थक वर्णों की आवृत्ति हो। जैसे, 'पराग परागत' में पहिला पराग सार्थक और दूसरा पराग, त हटा देने से, निरर्थक है।

३. सार्थक वर्ण-समूह की एक या अनेक बार आवृत्ति हो। भिन्न अर्थ तो होना ही चाहिए जैसे, बारन बारन में दोनों सार्थक हैं (और भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हैं)।

यमक, श्लेष तथा चित्र अलंकारों में ड ल, ब व और ल र अभिन्न वर्ण समझे जाते हैं। जैसे, 'भुजलता जड़ता' में जलता की जड़ता आवृत्ति समझी जायगी। इसी कारण सुनने में समान ध्वनि होने से पुनः श्रवण भी आवृत्ति के साथ साथ परिभाषा में लिखा जाता है पर वैसा लिखा जाना विशेष आवश्यक नहीं है।

यमक के पादावृत्ति, अर्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि अनेक भेद होते हैं और इनके भी अनेक उपभेद होते हैं। यहाँ कुछ मुख्य भेदों के उदाहरण दिए जायँगे।

आदि पद अव्ययेत यमक—

'मोहन मोह न आपको कियो सार्थक नाम।
ब्रजबालन को मोहि ठगि बसे मधुपुरी ग्राम।'

इसमें दोहे के प्रथम पाद में मोहन मोहन अव्ययेत (सटा हुआ) यमक है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पदों में अव्ययेत यमक होते हैं। जहाँ बीच में और शब्द आ जाय वहाँ सव्ययेत होता है और इसके भी चार पूर्व समान भेद होते हैं। कहीं कहीं दो पदों, तीन पदों तथा चारों पदों में दोनों तरह के (अव्ययेत-सव्ययेत) यमक होते हैं। इन्हें द्विपाद, त्रिपाद तथा चतुर्पाद यमक कहते हैं। जैसे,

त्रिपाद अव्ययेत यमक—

जूझि गयो संग्राम में सूरज सूरज लेखि।
दिवि-रमनी रमनीय तजि मूरति रति सम देखि॥

अर्द्ध पादावृत्ति यमक—

जैसे छुवै न चंद्रमा कमलाकर सविलास।
तैसे ही सब साधु पर कमलाकर न उदास॥

अर्द्ध भागावृत्ति यमक—

सुमन साथ लिए सुभ ले चले सुमनसा हरि-ध्यान किए हुए।

मुक्तपद ग्राह्य यमक—

नाम सुमिरि सुख- पावहीं गनैं नहीं जग-काम।
काम न कोऊ आवई होइ न कछु परिनाम॥

इसमें आदि तथा अंत के नाम तथा काम शब्दों में यमक है इस प्रकार यमक के अन्य भेदों को समझना चाहिए।

१००. श्लेष

जहाँ श्लिष्ट शब्दों का इस प्रकार चुनकर प्रयोग किया जाय कि वे पूरे वाक्य या पद का एक से अधिक अर्थ दें वहाँ श्लेष अलंकार होता है।

श्लेष शब्द श्लिष धातु से बना है, जिसका अर्थ आलिंगन करना, मिलना, मिलाना तथा समन्वित रहना है। जब ऐसे शब्दों का चुनकर प्रयोग किया जाता है कि उनसे एक से अधिक अर्थ निकलें तब वहाँ श्लेष अलंकार, होता है। वैसे शब्द श्लिष्ट कहे जाते हैं क्योंकि उनमें एक से अधिक अर्थ मिलते हैं या समन्वित रहते हैं। ये शब्द जब समूचे उसी रूप में एक से अधिक अर्थ देते हैं तब वे अभंग श्लिष्ट शब्द कहे जाते हैं और जब अभंग रूप में एक अर्थ तथा खंडित करने या तोड़ने पर अन्य अर्थ देते हैं अथवा दो प्रकार से खंडित करने पर दो अर्थ देते हैं तब वे सभंग श्लिष्ट शब्द कहलाते हैं। इस प्रकार अभंग या सभंग

श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से अभंग श्लेष तथा सभंग श्लेष होता है। कभी कभी दोनों मिश्रित श्लेष भी होते हैं।

वर्णन करनेवाले को जिसका वर्णन करना अभीष्ट होता है वही वर्ण्य, प्रकृत या प्रस्तुत कहलाता है और जिसका वर्णन प्रधानतया प्रथम के उन्नायक रूप में आ जाय वही अवर्ण्य, अप्रकृत या अप्रस्तुत कहलाता है। प्रथम उपमेय है तो द्वितीय उपमान है। जहाँ श्लेष के सभी अर्थ वर्ण्य ही पर घटते हैं वहाँ वह प्रकृत ही का आश्रित है, जहाँ अवर्ण्य ही पर घटते हैं वहाँ वह अप्रकृत ही का आश्रित है पर जहाँ दोनों पर भिन्न भिन्न अर्थ घटें वहाँ वह उभयाश्रित है। श्लेष के लिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों ही हों अर्थात् केवल प्रकृत के वर्णन में भी श्लेष होता है। प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों विशेष्य रूप में आते हैं और इन्हें प्रगट करनेवाले शब्द कभी श्लिष्ट होते हैं और कभी नहीं पर इनके विशेषण अर्थात् विशेषता दिखलानेवाले शब्द सर्वत्र श्लिष्ट होते हैं। परंतु जहाँ प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का श्लेष आश्रित हो वहाँ विशेष्य (प्रकृत या अप्रकृत) श्लिष्ट नहीं हो सकता, केवल विशेषण ही होता है क्योंकि वैसा होने पर वहाँ शब्दशक्ति मूला ध्वनि हो जायगी, अलंकार नहीं रहेगा। साथ ही दोनों को (प्रकृत तथा अप्रकृत) भिन्न शब्दों से प्रकट करना आवश्यक है क्योंकि ऐसा न करने से समासोक्ति अलंकार हो जायगा, श्लेष न रह जायगा।

श्लेष शब्दालंकार है या अर्थालंकार है, इस विषय में मतभेद है। एक मत है कि श्लेष दो प्रकार का है—शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष। सभंग श्लेष ही शब्द श्लेष या शब्दालंकार है और अभंग श्लेष अर्थालंकार है क्योंकि अंतिम में शब्द एक ही रहते हुए भी अर्थ एक से अधिक होते हैं। प्रथम में खंडित करने पर शब्द के भिन्न रूपों से भिन्न अर्थ निकलते हैं अर्थात् शब्दों के कई रूपों का एक में श्लेषण है पर दूसरे में एक शब्द रहते कई अर्थों का मेल है। दूसरा मत है कि दोनों ही शब्द श्लेष तथा

अर्थ श्लेष अर्थालंकार हैं और तीसरा मत है कि दोनों ही शब्दालंकार हैं। पर वास्तव में सभंग श्लेष के सिवा अभंग श्लेष में भी जहाँ वह अर्थ पर ही आश्रित है, शब्द पर नहीं हैं वहाँ भी अर्थालंकार ही मानना चाहिए। जहाँ अभंग श्लेष शब्द पर आश्रित है अर्थात् शब्द के परिवर्तन पर वह नहीं रह पाता वहाँ यह शब्दालंकार ही होगा।

श्लेष के संबंध में एक बात पर और मतभेद है। रूपक, समासोक्ति आदि कई अलंकारों के मूल में श्लेष रहता है, तो इनमें किसको प्रधान माना जाय। इसी तर्क में यह भी कहा गया है कि स्वतंत्र शुद्ध श्लेष का, जिसमें अन्य अलंकार न हो, उदाहरण बन ही नहीं सकता पर यह ठीक नहीं है। शुद्ध श्लेष भी होता है और अन्य अलंकारों से मिला हुआ भी होता है। जहाँ इस प्रकार का मिश्रण हो वहाँ जो अलंकार प्रधान हो वही मानना चाहिए। उदाहरण—

१. होइ न पूरन नेह बिनु ऐसो बदन उदोत।

इसमें नेह शब्द श्लिष्ट है, जिसके अर्थ प्रेम तथा तेल हैं। यह स्वतंत्र शुद्ध अभंग प्रकृत मात्र आश्रित अश्लिष्ट विशेष्य श्लेष है।

२. सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघहर सुख कंद।
जन हित कमला तजन जय शिव, नृप, कवि हरि चंद॥

इसका अर्थ श्लेष से शिव, राजा हरिश्चंद्र, कवि हरिश्चंद्र, श्रीकृष्ण तथा चंद्रमा पर घटता है। इसमें सत्यासक्त (सत्या, सती, सत्य + आसक्त) को खंडित करके पर अन्य विशेषणों को अभंग रूप में लेकर सब पर अर्थ घटाए गए हैं। यहाँ कवि का वर्ण्य राजा हरिश्चंद्र ही है पर अन्य अवर्ण्य का भी वर्णन हुआ है अतः प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष है। इसमें केवल विशेषण श्लिष्ट हैं, विशेष्य एक भी नहीं।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण समझने चाहिएँ।

१०१. पुनरुक्तवदाभास अलंकार

भिन्न आकारवाले (समानार्थी) शब्दों में एक अर्थ की प्रतीति

होने पर, जब कि वास्तव में उनका प्रयोग भिन्न अर्थों में हुआ हो, पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहते हैं।

पुनरुक्ति दोष है। एक ही अर्थवाले दो शब्द भिन्न आकार के होते भी उसी अर्थ में यदि प्रयुक्त हों तो दोष है पर जब इस दोष की साधारणतः देखने में प्रतीति हो और वास्तव में भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण वह दोष न हो तब यह अलंकार होता है। पुनरुक्ति+वत्+आभास अर्थात् जहाँ पुनरुक्ति सा आभास मात्र हो। पुनरुक्ति का आभास तभी संभव है, जब दोनों शब्द समानार्थी हों और उनमें से एक अन्य अर्थ भी दे। क्योंकि भिन्न आकार तथा भिन्न अर्थवाले शब्दों में पुनरुक्ति की प्रतीति संभव नहीं है। यह अलंकार शब्दगत तथा अर्थगत दोनों होने से उभयालंकार है। उदाहरण—

अली भौंर गुंजन लगे होन लगे दल पात।
जहँ तहँ फूले रूख तरु प्रिय प्रीतम किमि जात॥

इसमें अलि भौंर, दल पात, रूख तरु तथा प्रिय प्रीतम शब्दों में भिन्न आकार होते भी समान अर्थ रखने से, पुनरुक्ति की प्रतीति होती है परंतु सभी में एक-एक शब्द वास्तव में अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं इसलिए सबमें पुनरुक्ति का आभास मात्र है, वास्तविक नहीं है। अलि भौंर शब्दों में भ्रमर अर्थ के साम्य से पर अलि का अन्य अर्थ सखि वास्तव में लिए जाने से यह अलंकार है। यदि अलि के स्थान पर सखि शब्द रख दिया जाय तो यह अलंकार न रहेगा क्योंकि इसका अर्थ भ्रमर है नहीं। इसलिए यह शब्द गत है। भौंर के स्थान पर भृंग आदि शब्द रख दिए जायँ तब भी यह अलंकार बना रहता है इसलिए यह अर्थगत है। तात्पर्य यह कि अलि-भौंर में उभयगत पुनरुक्तवदाभास है।

कहीं एक शब्द, कहीं दोनों और कहीं एक भी नहीं बदले जा सकते अर्थात् कहीं एक अर्थगत, कहीं दोनों अर्थगत और कहीं दोनों शब्दगत रहते हैं।

१०२. चित्र अलंकार

पद्य के शब्दों के वर्ण ऐसे क्रम विशेष से रखे जायँ कि वे कमल आदि आकारों में पढ़े जा सकें तब उनमें चित्रालंकार होता है।

इस अलंकार में शब्द या अर्थ किसीका चमत्कार नहीं होता और न यह रस का उपकारी ही होता है। कवि की कुशलता मात्र इससे प्रकट होती है क्योंकि यह कष्ट-साध्य रचना होती है। एक अक्षर आकार बन जाने पर एक ही बार लिखे जाने पर भी कई बार पढ़ा जाता है तभी वह चित्र बनाता है। इसमें अर्थगत कोई उक्ति-वैचित्र्य नहीं रहता और न पूरे शब्दों ही में कुछ चमत्कार रहता है इसलिए इसे अर्थालंकार तो कहा ही नहीं जा सकता पर शब्दालंकार में इस कारण गिना गया है कि यद्यपि ये वर्ण अलग-अलग अपने-अपने स्थान पर लिखे जाते हैं तथा चित्रण चमत्कार उत्पन्न करते हैं पर वे पूरे शब्दों ही के अंश हैं और उनसे उनका अभेद माना जाता है। कविगण कभी-कभी ऐसी कविता भी करते हैं, जिनमें मात्राएँ नहीं आतीं या बिना ओंठ सटाए सारा पद पढ़ा जा सकता है। अंतर्लापिका, बहिर्लापिका आदि भी अनेक भेद हैं पर सबको लिखने का यहाँ स्थानाभाव है। अब चित्रा-लंकार का एक उदाहरण दिया जाता है।

नैन बान हन बैन मन ध्यान लीन मन कीन।
चैन है न दिन रैन तन छिन छिन उन बिन छीन॥

इसमें १८+२० अक्षर हैं पर इनमें केवल न ९+१० बार आया है। यदि न कर्णिका में रखा जाय तो बचे उन्नीस अन्य अक्षर उन्नीस कमल-दल में लिखे जायँ तो कमलबंध हो जाय यदि गोलाकार चित्र बना दिया जाय तो दर्पण-बंध बन जाय। इसी प्रकार क्रम-विशेष से लिखते हुए चामर, चक्र आदि अनेक चित्र बनाए जा सकते हैं।